श्रीअरविन्द



गीताकी भूमिका

श्रीअरविन्द



गीताकी भूमिका

श्रीअरविन्द आश्रम

*

पांडीचेरी

प्रकाशक
श्रीअरविन्द आश्रम
पांडीचेरी

द्वितीय संस्करण
१९५४

मूल्य २)

दो शब्द

सन् १९०९ में जब श्रीअरविन्द जेलसे बाहर आये तब उन्होंने 'धर्म' नामका एक बंगला साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया। इस पत्रका मुख्य उद्देश्य था सनातन-धर्मका प्रचार करना। और चूंकि सनातनधर्मका एक प्रधान आधार गीता भी है, अतएव उन्होंने गीताकी एक सरल व्याख्या भी धारावाहिक रूपसे उस पत्रमें प्रकाशित करना आरंभ किया। परंतु कुछ महीनोंके बाद ही उन्हें भगवदादेश होनेके कारण बंगाल छोड़कर पांडीचेरीके एकांतवासमें आ जाना पड़ा और इस तरह वह व्याख्या अधूरी ही रह गयी। वही अधूरी गीता पीछे 'गीतार भूमिका' के नामसे बंगलामें पुस्तकाकार प्रकाशित हुई जिसका यह हिन्दी अनुवाद है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक असंपूर्ण होनेपर भी गीताको ठीक-ठीक समझनेमें बहुत-कुछ सहायता कर सकती है, गीताको समझनेके लिये एक सत्य-दृष्टि प्रदान कर सकती है और श्री-अरविन्दद्वारा व्याख्यात गीता-तत्त्वको हृदयंगम करनेमें हमारा पथप्रदर्शन कर सकती है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

गीताकी भूमिका

प्रस्तावना

गीता जगत्की श्रेष्ठ धर्मपुस्तक है। गीतामें जिस ज्ञानकी व्याख्या संक्षेपमें की गयी है, वही ज्ञान चरम और गुह्यतम है; गीतामें जिस धर्मनीतिका वर्णन है, सभी धर्मनीतियां उसी नीतिके अंतर्गत हैं तथा उसीपर प्रतिष्ठित हैं; गीतामें जो कर्ममार्ग प्रदर्शित किया गया है वही कर्ममार्ग उन्नतिशील जगत्का सनातन मार्ग है।

गीता अनगिनत रत्नोंको उत्पन्न करनेवाला अथाह समुद्र है। सारे जीवन इस समुद्रके नीचेके स्तरमें उतरनेकी चेष्टा करते रहने-पर भी इसकी गहराईका पता नहीं चलता, इसकी थाह नहीं मिलती। सैकड़ों वर्षोंतक ढूंढ़ते रहनेपर भी इस अनंत रत्न-भांडारका एक सहस्रांश भी आहरण करना दुष्कर है। अथच इसमेंसे दो-एक रत्न भी निकाल लेनेपर दरिद्र धनी हो जाते हैं, गभीर चिंतनशील व्यक्ति ज्ञानी हो जाते हैं, भगवद्विद्वेषी लोग प्रेमिक बन जाते हैं तथा महापराक्रमी, शक्तिमान् कर्मवीर अपने जीवनकी उद्देश्य-सिद्धिके लिये पूर्ण रूपसे सुसज्जित और सन्नद्ध होकर कर्मक्षेत्रमें लौट आते हैं।

गीता मणियोंकी अक्षय खान है। यदि युग-युगांतर इस खान-

से मणियां निकलती रहें तो भी भावी वंशधर इसमेंसे सर्वदा नये-नये अमूल्य मणि-माणिक्य प्राप्त कर प्रसन्न और विस्मित होते रहेंगे।

ऐसी गभीर और गुप्तज्ञानपूर्ण पुस्तक होनेपर भी इसकी भाषा अत्यंत प्रांजल है, इसकी रचना अत्यंत सरल है तथा इसका बाह्य अर्थ सहज ही समझमें आने योग्य है। गीता-समुद्रकी छोटी-छोटी तरंगोंके ऊपर-ही-ऊपर सैर करनेपर भी, इसके अंदर डुबकी न लगानेपर भी, शक्ति और आनंदकी बहुत कुछ वृद्धि हो जाती है। गीतारूपी खानकी रत्नोद्भासित गभीर गुहामें प्रवेश न कर, केवल इसके चारों ओर घूमते रहनेपर भी घास-पातपर गिरी हुई जो उज्ज्वल मणि मिल जाती है, उससे ही हम इहजीवनमें धनी बन सकते हैं।

गीताकी हजारों व्याख्याएं होनेपर भी ऐसा समय कभी नहीं आयेगा जब कि किसी नयी व्याख्याकी आवश्यकता न हो। कोई जगत्-श्रेष्ठ महापंडित अथवा गभीर ज्ञानी गीताकी ऐसी व्याख्या नहीं कर सकते जिसे हृदयंगम कर हम यह कह सकें कि बस हो चुका, अब इसके बाद गीताकी और कोई व्याख्या करना निष्प्रयोजन है, सारा अर्थ समझमें आ गया। सारी बुद्धि खर्च करके हम इस ज्ञानकी मात्र कतिपय शिक्षाओंको ही समझ सकते या समझा सकते हैं। बहुत दिनोंतक योगमग्न होकर अथवा निष्कामकर्म-मार्गद्वारा उच्चसे उच्चतर स्थानपर आरूढ़ होकर भी हम इतना

ही कह सकते हैं कि हमने गीतोक्त कुछ गभीर सत्योंको ही प्राप्त किया है अथवा गीताकी दो-एक शिक्षाओंको ही इस जीवनमें कार्यान्वित किया है। लेखकने इस शिक्षामेंसे जो कुछ अनुभव किया है, उसने जितने अंशका कर्मपथपर अभ्यास किया है, विचार-वितर्कके द्वारा इसका जो अर्थ किया है, उसे दूसरोंकी सहायताके लिये प्रकट करना ही इन प्रबंधोंका उद्देश्य है।

वक्ता

गीताके उद्देश्य और अर्थको समझनेके लिये सबसे पहले उसके वक्ता और पात्रका तथा उस समयकी अवस्थाका विचार करना आवश्यक है। उसके वक्ता हैं भगवान् श्रीकृष्ण, उसके पात्र हैं भगवान्के सखा वीरश्रेष्ठ अर्जुन और उस समयकी अवस्था है कुरुक्षेत्रके भीषण हत्याकांडका आरंभ।

बहुतसे लोग कहते हैं कि महाभारत रूपकमात्र है। श्रीकृष्ण हैं भगवान्, अर्जुन हैं जीव, धार्त्तराष्ट्रगण अर्थात् दुर्योधन आदि हैं कामक्रोधादि रिपु और पांडव-सेना है मुक्तिके लिये अनुकूल वृत्तियां। परंतु ऐसा कहनेसे जैसे एक ओर महाभारतको काव्य-जगत्में एक हीन स्थान प्राप्त होता है वैसे ही दूसरी ओर गीताकी गभीरता, कर्मीके जीवनमें उसकी उपयोगिता तथा मानवजातिकी उन्नति करानेवाली उसकी उच्च शिक्षा खर्व और नष्ट होती है। कुरु-

क्षेत्रका युद्ध केवल गीताचित्रका ढांचा ही नहीं है, बल्कि वह गीता-की शिक्षाका मूल कारण है तथा गीतोक्त धर्मको संपादित करने-का श्रेष्ठ क्षेत्र है। यदि कुरुक्षेत्रके महायुद्धका काल्पनिक अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो गीताका धर्म वीरोंका धर्म, संसारमें आचरण करने योग्य धर्म नहीं रह जायगा, बल्कि वह संसारके लिये अनुपयोगी, शांत संन्यासधर्ममें परिणत हो जायगा।

श्रीकृष्ण गीताके वक्ता हैं। शास्त्र कहते हैं, श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। गीतामें भी श्रीकृष्णने अपने-आपको भगवान् कहा है। चौथे अध्यायमें अवतारवाद और दसवें अध्यायमें विभूति-वादका वर्णन कर यह बतलाया गया है कि भगवान् भूतमात्रके शरीरमें प्रच्छन्न रूपसे अधिष्ठित हैं, विशेष-विशेष भूतोंमें शक्तिके विकासके अनुसार कुछ परिमाणमें व्यक्त हैं तथा श्रीकृष्ण-शरीरमें पूर्णांगरूपमें अवतीर्ण हैं। बहुतोंका कहना है कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और कुरुक्षेत्र रूपकमात्र हैं, इस रूपकको छोड़कर ही गीताकी असली शिक्षाका उद्धार करना होगा, किंतु उस शिक्षाके इस अंश-को नहीं छोड़ा जा सकता। अवतारवाद यदि ठीक हो तो फिर हम श्रीकृष्णको क्यों छोड़ देंगे? अतएव स्वयं भगवान् ही इस ज्ञान और शिक्षाके प्रचारक हैं।

श्रीकृष्ण अवतार हैं, वह मानवशरीरमें मनुष्यके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक धर्मको ग्रहण कर तदनुसार लीला कर गये हैं। उस लीलाकी प्रकट और गूढ़ शिक्षाको यदि हम आयत्त

कर सकें तो हम इस जगद्व्यापी लीलाके अर्थ, उद्देश्य और प्रणाली-को भी समझ जायंगे। उस महती लीलाका प्रधान अंग है पूर्ण ज्ञानद्वारा प्रवर्तित कर्म; उस कर्मके अंदर तथा उस लीलाके मूलमें जो ज्ञान निहित था, वही गीतामें प्रकाशित हुआ है।

महाभारतके श्रीकृष्ण कर्मवीर, महायोगी, महासंसारी, साम्राज्य-संस्थापक, राजनीतिज्ञ और योद्धा हैं, क्षत्रिय-शरीरमें ब्रह्मज्ञानी हैं। उनके जीवनमें हम महाशक्तिका अतुलनीय विकास और रहस्यमय क्रीड़ा देखते हैं। उसी रहस्यकी व्याख्या गीता है।

श्रीकृष्ण जगत्प्रभु हैं, विश्वव्यापी वासुदेव हैं, फिर भी अपनी महिमाको प्रच्छन्न रख उन्होंने मनुष्योंके साथ पिता, पुत्र, भ्राता, पति, सखा, मित्र, शत्रु इत्यादिका संबंध स्थापित कर लीला की है। उनके जीवनमें आर्य-ज्ञानका श्रेष्ठ रहस्य और भक्तिमार्गकी उत्तम शिक्षा निहित है। इन दोनोंका तत्त्व भी गीताकी शिक्षाके अंदर आ गया है।

श्रीकृष्ण द्वापर और कलियुगके संधिकालमें अवतीर्ण हुए थे। प्रत्येक कल्पमें भगवान् उसी संधिकालमें पूर्णांग रूपमें अवतीर्ण होते हैं। कलियुग चारों युगोंमें जैसे निकृष्ट युग है वैसे ही श्रेष्ठ युग भी है। यह युग मानवोन्नतिके प्रधान शत्रु पापप्रवर्त्तक कलिका राज्यकाल है, कलिके राज्यकालमें मनुष्यकी अत्यंत अवनति और अधोगति होती है। परंतु बाधाके साथ युद्ध करते-करते मनुष्यकी शक्ति बढ़ती है और पुरातनका ध्वंस होनेसे नवीनकी सृष्टि होती

है। कलियुगमें भी यही नियम दिखायी देता है। जगत्के क्रमविकासके द्वारा अशुभका जो अंश विनाशकी ओर अग्रसर होता रहता है, वही कलियुगमें अतिविकासके द्वारा नष्ट हो जाता है, और दूसरी ओर नवीन सृष्टिका बीज बोया जाता और अंकुरित होता है और वही बीज सत्ययुगमें वृक्षके रूपमें परिणत होता है। इसके अतिरिक्त जैसे ज्योतिष-विद्यामें एक ग्रहकी दशामें सभी ग्रहोंकी अंतर्दशाका भोग होता है, वैसे ही कलिकी दशामें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि भी अपनी-अपनी अंतर्दशाका बार-बार भोग करते रहते हैं। इस प्रकारकी कालचक्रकी गतिके कारण कलियुगमें घोर अवनति, पुनः उन्नति, पुनः घोरतर अवनति, पुनः उन्नति होती है और इस तरह भगवान्का उद्देश्य साधित होता है। द्वापर और कलियुगके संधिकालमें भगवान् अवतीर्ण होकर अशुभका अतिविकास, अशुभका नाश, शुभका बीजवपन और इस बीजके अंकुरित होनेके लिये अनुकूल अवस्था उत्पन्न कर जाते हैं, फिर उसके बाद कलियुगका आरंभ होता है। श्रीकृष्ण इस गीता-में सत्ययुगको ले आने योग्य गुह्य ज्ञान और कर्मप्रणाली छोड़ गये हैं। कलिके अंदर सत्ययुगकी अंतर्दशा आरंभ होनेके समय गीताधर्मका विश्वभरमें प्रचार होना अवश्यंभावी है। अब वह समय आ गया है और इसलिये गीताका प्रचार कुछ ज्ञानी और पंडित लोगोंके अंदर ही सीमाबद्ध न रहकर सर्वसाधारणमें और म्लेच्छ देशोंतकमें हो रहा है।

अतएव वक्ता श्रीकृष्णसे उनकी गीतारूपी वाणीको अलग नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण गीतामें प्रच्छन्न रूपसे विद्यमान हैं; गीता श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्त्ति है।

पात्र

गीतोक्त ज्ञानके पात्र हैं पांडवश्रेष्ठ महावीर इंद्रतनय अर्जुन। जिस तरह वक्ताको छोड़ देनेसे गीताका उद्देश्य और निगूढ़ अर्थ समझना कठिन है, उसी तरह पात्रको भी छोड़ देनेसे उस अर्थकी हानि होती है।

अर्जुन श्रीकृष्णके सखा थे। जो लोग श्रीकृष्णके समकालीन थे, एक ही कर्मक्षेत्रमें उतरे थे, उन्होंने मनुष्यदेहधारी पुरुषोत्तम-के साथ अपने-अपने अधिकार और पूर्वकर्मभेदानुसार नाना प्रकार-का संबंध स्थापित किया था। उद्धव श्रीकृष्णके भक्त थे, सात्यकि उनके अनुगत सहचर और अनुचर थे, राजा युधिष्ठिर उनकी मंत्रणाके अनुसार चलनेवाले आत्मीय और बंधु थे, किंतु जैसी घनिष्ठता श्रीकृष्णके साथ अर्जुनकी थी वैसी घनिष्ठता और कोई भी स्थापित नहीं कर सका था। समवयस्क दो पुरुषोंमें जितने भी मधुर और निकट संबंध हो सकते हैं वे सभी मधुर संबंध श्रीकृष्ण और अर्जुनमें विद्यमान थे। अर्जुन श्रीकृष्णके भाई थे, उनके प्रियतम सखा थे, उनकी प्राणप्यारी बहन सुभद्राके स्वामी थे। चतुर्थ अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि इस घनिष्ठताके

कारण ही उन्होंने अर्जुनको गीताका परम रहस्य सुननेके उपयुक्त पात्रके रूपमें वरण किया है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

"उसी पुरातन लुप्त योगको आज मैंने तेरे सामने इसलिये प्रकट किया है कि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है। कारण, यह योग ही जगत्‌का श्रेष्ठ और परम रहस्य है।" अठारहवें अध्यायमें भी गीताके केंद्रस्वरूप कर्मयोगके मूलमंत्रको व्यक्त करनेके समय इसी बातकी पुनरुक्ति की गयी है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

"अब मेरी परम और सबसे अधिक गुह्य बातको सुन। तू मुझे अत्यंत प्रिय है, इसी कारण मैं तेरे सामने इस श्रेष्ठ मार्गकी बात प्रकट करूंगा।" इन दोनों श्लोकोंका तात्पर्य श्रुतिके अनुकूल है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्यतस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

"यह परमात्मा दार्शनिककी व्याख्याद्वारा भी प्राप्त नहीं होते, मेधाशक्तिके द्वारा भी प्राप्त नहीं होते, अत्यधिक शास्त्रज्ञानके द्वारा

भी प्राप्त नहीं होते, भगवान् स्वयं जिन्हें वरण करते हैं उन्हें ही वे प्राप्त होते हैं, उन्हींके सामने परमात्मा अपने शरीरको प्रकट करते हैं।" अतएव जो भगवान्के साथ सख्य आदि मधुर संबंध स्थापित करनेमें समर्थ होते हैं, वे ही गीतोक्त ज्ञानके पात्र हैं।

इसके अंदर एक और अत्यंत आवश्यक बात निहित है। भगवान्ने अर्जुनको एक ही शरीरमें भक्त और सखाके रूपमें वरण किया था। भक्त नाना प्रकारके होते हैं। साधारणतया जब किसीको किसीका भक्त कहा जाता है तब हमारा मन गुरु-शिष्य-संबंधकी ओर ही जाता है। उस भक्तिके मूलमें भी प्रेम तो होता ही है, पर प्रायः बाध्यता, सम्मान और अंधभक्ति ही उसका विशेष लक्षण होती है। परंतु सखा सखा का सम्मान नहीं करता, वह उसके साथ खेल-कूद, आमोद-प्रमोद और स्नेह-संभाषण करता है; क्रीड़ाके लिये उसका उपहास और तिरस्कार भी करता है, उसे गाली देता है और उसके साथ शरारत भी करता है। सखा सर्वदा अपने सखाकी आज्ञासे बंधा हुआ नहीं होता, वह उसकी ज्ञानगरिमा और अकपट हितैषितासे मुग्ध होकर यद्यपि उसके उपदेशानुसार चलता है, पर अंधभावसे नहीं चलता; वह उसके साथ तर्क करता है; अपने समस्त संदेहोंको उसके सामने रखता है, बीच-बीचमें उसके मतका प्रतिवाद भी करता है। सख्य-संबंधकी पहली शिक्षा है भयको दूर भगाना; उसकी दूसरी शिक्षा है सम्मानके बाहरी आडंबरका त्याग करना; प्रेम उसकी सबसे पहली

और अंतिम बात होती है। जो लोग इस जगत्को माधुर्यमय, रहस्यमय, प्रेममय और आनंदमय लीला समझकर भगवान्को लीला-के सहचरके रूपमें वरण कर सकते हैं तथा उन्हें सख्य-संबंधके द्वारा बांध सकते हैं, वे ही गीतोक्त ज्ञानके पात्र हैं। जो भग-वान्की महिमा, प्रभुता, ज्ञानगरिमा और भीषणताको हृदयंगम करके भी उससे अभिभूत नहीं होते और उनके साथ निर्भय होकर हंसते-हंसते खेलते रहते हैं, वे ही गीतोक्त ज्ञानके पात्र हैं।

सख्य-संबंधमें क्रीड़ाके लिये और सब संबंध अंतर्भूत हो सकते हैं। गुरु-शिष्य-संबंध यदि सख्य-भावमें प्रतिष्ठित हो जाय तो वह अत्यंत मधुर हो जाता है, ऐसे ही संबंधकी स्थापना अर्जुनने श्री-कृष्णके साथ गीताके आरंभमें की थी। "तुम मेरे परम हितैषी बंधु हो, तुम्हारे सिवा और किसकी शरणमें मैं जाऊं? मैं हतबुद्धि हो रहा हूं, कर्तव्यके भयसे अभिभूत हो रहा हूं, कर्तव्यके संबंधमें संदिग्ध हो रहा हूं, तीव्र शोकसे आतुर हो रहा हूं। तुम मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश दो, मैं अपने लौकिक और पारलौकिक मंगलका समस्त भार तुमपर छोड़ रहा हूं।" इस भावके साथ अर्जुन मानवजाति-के सखा और आश्रयके निकट ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आये थे। इसके अतिरिक्त मातृसंबंध और वात्सल्यभाव भी सख्य-भावके अंदर सन्निविष्ट होता है। जो वयोवृद्ध और ज्ञानश्रेष्ठ होते हैं वे अपने-से अल्पवयस्क तथा अल्पविज्ञ सखाको मातृवत् स्नेह करते, उसकी रक्षा करते, उसकी देख-भाल करते, उसे सदा अपनी गोदमें रख-

कर विपत्ति और अशुभसे बचाते रहते हैं। जो लोग श्रीकृष्णके साथ सख्य-भाव स्थापित करते हैं, उनके सामने श्रीकृष्ण अपने मातृरूपको भी प्रकट करते हैं। सख्य-भावके अंदर जिस प्रकार मातृप्रेमकी गभीरता आ जाती है, उसी प्रकार दांपत्य-प्रेमकी तीव्रता और उत्कट आनंद भी आ सकता है। सखा सदा अपने सखाके सान्निध्यमें रहनेकी प्रार्थना करता है और उसके विरहसे कातर होता है; उसके शरीर-स्पर्शसे पुलकित होता है, उसके लिये प्राणतक दे देनेमें आनंदका अनुभव करता है। दास्य-संबंध भी सख्यकी क्रीड़ाके अंतर्भूत हो जानेपर अत्यंत मधुर हो जाता है। कहा जाता है कि जो पुरुषोत्तमके साथ जितना ही मधुर संबंध स्थापित कर सकता है, उसका सख्य-भाव उतना ही अधिक प्रस्फुटित होता है तथा उसे गीतोक्त ज्ञानकी उतनी ही पात्रता प्राप्त होती है।

कृष्णसखा अर्जुन महाभारतके प्रधान कर्मी हैं और गीताकी सबसे प्रधान शिक्षा कर्मयोगकी शिक्षा है। ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों मार्ग परस्परविरोधी नहीं हैं, ज्ञान-प्रवर्त्तित कर्ममें भक्तिलब्ध शक्तिका प्रयोग कर, भागवत उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये भगवान्‌के साथ युक्त होकर, उन्हींके आदेशानुसार कर्म करना गीतोक्त कर्ममार्गकी शिक्षा है। जो संसारके दुःखसे डरते हैं, वैराग्य-रोगसे पीड़ित हैं, भगवान्‌की लीलासे उदासीन हो चुके हैं तथा इस लीलाको छोड़कर अनंतकी गोदमें जाना चाहते हैं, उनका

मार्ग दूसरा है। वीरश्रेष्ठ महाधनुर्धर अर्जुनको ऐसी कोई इच्छा नहीं थी, उनका ऐसा कोई भाव नहीं था। श्रीकृष्णने किसी शांत संन्यासी अथवा दार्शनिक ज्ञानीके निकट इस उत्तम रहस्यको प्रकट नहीं किया था, किसी अहिंसापरायण ब्राह्मणको इस शिक्षाके पात्र-के रूपमें वरण नहीं किया था, बल्कि एक महापराक्रमी, तेजस्वी क्षत्रिय योद्धा इस अतुलनीय ज्ञानको प्राप्त करनेका उपयुक्त आधार माना गया था। जो संसार-युद्धमें जय या पराजयसे विचलित नहीं होता, वही इस शिक्षाके गूढ़तम स्तरके भीतर प्रवेश करनेमें समर्थ होता है। "**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**"—यह आत्मा बलहीन पुरुषोंको नहीं प्राप्त होता। जो लोग मुमुक्षुत्वकी अपेक्षा भगवान्-को पानेकी आकांक्षा रखते हैं, वे ही भागवत सान्निध्यका आस्वाद ग्रहण कर अपने-आपको नित्य-मुक्त जानते हैं तथा मुमुक्षुत्वको अज्ञानका अंतिम आश्रयस्थल जानकर उसका त्याग करनेमें समर्थ होते हैं। जो तामसिक और राजसिक अहंकारका त्याग कर सात्त्विक अहंकारसे भी बद्ध रहना नहीं चाहते, वे ही गुणातीत हो सकते हैं। अर्जुनने क्षत्रियधर्मका पालन कर राजसिक वृत्तिको चरितार्थ किया था, और फिर सात्त्विक आदर्शको ग्रहण करके रजःशक्तिको सत्त्वमुखी बनाया था। ऐसा पात्र ही गीतोक्त शिक्षा-का उत्तम आधार है।

अर्जुन अपने समसामयिक महापुरुषोंमें श्रेष्ठ नहीं थे। उस समय आध्यात्मिक ज्ञानमें व्यासदेव श्रेष्ठ थे, उस युगके सब प्रकार-

के सांसारिक ज्ञानोंमें भीष्मपितामह श्रेष्ठ थे, ज्ञान-तृष्णामें राजा धृतराष्ट्र और विदुर श्रेष्ठ थे, साधुता और सात्त्विक गुणमें धर्म-पुत्र युधिष्ठिर श्रेष्ठ थे, भक्तिमें उद्धव और अक्रूर श्रेष्ठ थे तथा स्वभावगत शौर्य और पराक्रममें बड़े भाई महारथी कर्ण श्रेष्ठ थे। फिर भी जगत्प्रभुने अर्जुनको ही वरण किया था, उन्हींके हाथोंमें अचला जयश्री एवं गांडीव आदि दिव्य अस्त्रोंको अर्पण कर उनके द्वारा भारतके हजारों जगद्विख्यात योद्धाओंका संहार कर युधिष्ठिर-का निष्कंटक साम्राज्य उन्हींके पराक्रमलब्ध दानके रूपमें स्थापित किया था; और इसके साथ-ही-साथ उन्हींको गीतोक्त परम ज्ञान-का एकमात्र उपयुक्त पात्र भी माना था। अर्जुन ही महाभारतके नायक और प्रधान कर्मी थे; इस काव्यका प्रत्येक अंश उन्हींकी यश-कीर्त्तिकी घोषणा करता है। यह पुरुषोत्तम या महाभारत-रचयिता व्यासदेवका अनुचित पक्षपात नहीं है। अर्जुनका यह उत्कर्ष पूर्ण श्रद्धा और आत्मसमर्पणका फल है। जो लोग पुरुषोत्तमपर पूर्ण श्रद्धा रखकर, कोई दावा न कर उन्हींपर निर्भर करते हैं, अपने शुभ और अशुभ, मंगल और अमंगल, पाप और पुण्यका समस्त भार उन्हें अर्पण करते हैं, अपने प्रिय कर्ममें आसक्त न होकर उनके आदेशानुसार कर्म करनेके लिये तैयार रहते हैं, अपनी प्रिय वृत्तिको चरितार्थ न कर उनके द्वारा प्रेरित वृत्तिको ग्रहण करते हैं, स्वप्रशंसित गुणका आग्रहके साथ आलिंगन न कर उनके दिये हुए गुण और प्रेरणाको उन्हींके काममें प्रयुक्त करते

हैं, वे श्रद्धावान् अहंकाररहित कर्मयोगी ही पुरुषोत्तमके प्रियतम सखा और शक्तिके आधार होते हैं, उनके द्वारा जगत्के विराट् कार्य निर्दोष रूपसे संपन्न होते हैं। इस्लाम-धर्मके प्रणेता हजरत मुहम्मद इसी प्रकारके एक श्रेष्ठ योगी थे। अर्जुन भी इसी प्रकार आत्मसमर्पण करनेके लिये बराबर चेष्टा करते थे। यही चेष्टा श्रीकृष्णकी प्रसन्नता और प्रेमका कारण थी। जो लोग दृढ़तापूर्वक पूर्ण आत्मसमर्पण करनेकी चेष्टा करते हैं वे ही गीतोक्त शिक्षाके उत्तम अधिकारी हैं। श्रीकृष्ण उनके गुरु और सखा होकर उनके इहलोक और परलोकके सारे भारको ग्रहण करते हैं।

अवस्था

मनुष्यके प्रत्येक कार्य तथा उसकी प्रत्येक उक्तिका उद्देश्य और कारण पूर्ण रूपसे समझनेके लिये यह जानना आवश्यक है कि किस अवस्थामें वह कार्य किया गया था या वह उक्ति व्यक्त हुई थी। कुरुक्षेत्रके महायुद्धके आरंभमें जिस समय शस्त्रप्रयोग आरंभ हुआ था–**प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते**–उसी समय भगवान्ने गीता प्रकट की थी। इस बातसे बहुतसे लोग विस्मित और क्रोधित होते हैं; वे कहते हैं कि यह निश्चय ही या तो कविकी असावधानी है या उनकी बुद्धिका दोष है। परंतु वास्तवमें उसी समय, उसी स्थानपर, उसी प्रकारके भावापन्न पात्रको देश-काल-पात्रका विचार कर

श्रीकृष्णने गीतोक्त ज्ञान प्रदान किया था।

समय था युद्धका आरंभ। जिन्होंने प्रबल कर्मस्रोतमें अपन वीरत्व और शक्तिका विकास नहीं किया है, उसकी परीक्षा नहीं की है, वे कभी गीतोक्त ज्ञानके अधिकारी नहीं हो सकते। परंतु जो लोग कोई कठिन महाव्रत आरंभ करते हैं, ऐसा महाव्रत आरंभ करते हैं जिसमें अनेक प्रकारके बाधा-विघ्न आते हैं, अनेक शत्रुओंकी वृद्धि होती है, बहुत बार पराजयकी आशंका स्वभावतः ही होती है, उनमें उस महाव्रतका पालन करनेसे दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है और तब उस व्रतके अंतिम उद्यापनके लिये, भगवान्की कार्यसिद्धिके लिये यह ज्ञान प्रकाशित होता है। गीता यह कहती है कि कर्मयोगके द्वारा भगवान्की प्राप्ति होती है, श्रद्धा और भक्तिपूर्ण कर्मसे ज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव गीतोक्त मार्गका पथिक पथ छोड़कर किसी दूरस्थ शांतिमय आश्रममें, पर्वत या निर्जन स्थानमें भगवान्का साक्षात्कार प्राप्त नहीं करता, बल्कि बीच रास्तेमें ही, कर्मके कोलाहलके अंदर ही हठात् वह स्वर्गीय दीप्ति उसके सामने जगत्को आलोकित कर देती है, वह मधुर तेजोमयी वाणी उसके कर्णकुहरमें प्रवेश कर जाती है।

स्थान था युद्धक्षेत्र, दो सेनाओंका मध्यभाग, और वहां शस्त्रपात हो रहा था। जो लोग इस पथके पथिक होते हैं, ऐसे कर्ममें अग्रणी होते हैं, वे प्रायः ही कोई महत्तर फल उत्पन्न होनेके समय, उस समय जब कि कर्मीके भाग्यकी गति उसके कर्मानुसार

इस ओर या उस ओर परिचालित होनेवाली होती है, अकस्मात् योगसिद्धि और परम ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनका यह ज्ञान कर्मका अवरोध नहीं करता, बल्कि कर्मके साथ घुल-मिल जाता है। यह बात भी सत्य है कि ध्यानसे, निर्जन स्थानमें, स्वस्थ आत्माके अंदर ज्ञान प्रकाशित होता है, इसी कारण मनीषिगण निर्जन स्थानमें रहना पसंद करते हैं। परंतु गीतोक्त योगके साधक अपने मन, प्राण और देहरूपी आधारको इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं कि वे जनताके अंदर निर्जनता, कोलाहलके अंदर शांति, घोर कर्मप्रवृत्तिके अंदर परम निवृत्तिका अनुभव कर सकें। वे अंतरको बाह्यद्वारा नियंत्रित नहीं करते, बल्कि बाह्यको अंतरद्वारा नियंत्रित करते हैं। साधारण योगी संसारसे डरते हैं और संसारसे भागकर योगाश्रममें शरण लेते और फिर योगमें प्रवृत्त होते हैं। परंतु कर्मयोगीका योगाश्रम संसार ही होता है। साधारण योगी बाहरी शांति और नीरवताकी अभिलाषा करते हैं, शांतिभंग होनेसे उनका तपोभंग होता है। परंतु कर्मयोगी अंतरमें विशाल शांति और नीरवताका भोग करते हैं, बाहरी कोलाहलमें उनकी यह अवस्था और भी गभीर होती है, बाहरमें तपोभंग होनेसे उनका वह स्थिर आंतरिक तप भंग नहीं होता, अविचलित रहता है। लोग कहते हैं कि युद्धके लिये तैयार दो सेनाओंके बीचमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह संवाद किस प्रकार संभव हुआ था? इस बातका उत्तर यह है कि योगके प्रभावसे संभव हुआ था। उस योग-

बलके द्वारा युद्धके कोलाहलके बीच भी एक स्थानमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके अंदर और बाहर शांति विराजमान थी, युद्धका कोलाहल उन दोनों व्यक्तियोंको स्पर्श नहीं कर सका था। इस बातमें कर्मोपयोगी एक और आध्यात्मिक शिक्षा निहित है। जो लोग गीतोक्त योगका अनुशीलन करते हैं वे श्रेष्ठ कर्मी होते हैं, अथच वे कर्मसे अनासक्त रहते हैं। वे कर्मके अंदर ही आत्माके आंतरिक आवाहनको सुनकर कर्मसे विरत होते तथा योगमग्न और तपस्यारत होते हैं। वे जानते हैं कि कर्म भगवान्का है, फल भी भगवान्का है, हम केवल यंत्र हैं, इसलिये वे कर्मफलके लिये उत्कंठित नहीं होते। वे यह भी जानते हैं कि कर्मयोगकी सुविधाके लिये, कर्मकी उन्नतिके लिये ज्ञान और शक्तिको बढ़ानेके लिये यह आवाहन होता है। इसलिये कर्मसे अलग होनेमें उन्हें भय नहीं होता, वे जानते हैं कि तपस्यामें समय लगानेसे वह कभी व्यर्थ नहीं जा सकता।

पात्रका भाव कर्मयोगीके अंतिम संदेहको जगाता है। विश्वकी समस्या, सुख-दुःखकी समस्या, पाप-पुण्यकी समस्या उसके सामने खड़ी होती है और इसी समस्यासे घबड़ाकर बहुतसे लोग कर्मक्षेत्रसे भागना ही अच्छा समझकर निवृत्ति, वैराग्य और कर्मत्यागकी प्रशंसा करते फिरते हैं। बुद्धदेवने जगत्को अनित्य और दुःखमय बताकर निर्वाणप्राप्तिका मार्ग दिखाया था। ईसामसीह, टाल्स्टाय आदिने मानवजातिके लिये संतति पैदा करनेवाली विवाह-

पद्धतिका तथा जगत्के चिरंतन नियम युद्धका घोर विरोध किया था। संन्यासी कहते हैं कि कर्म अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है, अज्ञान-का त्याग करो, कर्मका त्याग करो, शांत और निष्क्रिय हो जाओ। अद्वैतवादी कहते हैं कि जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है, ब्रह्ममें विलीन हो जाओ। तो फिर यह जगत् क्यों उत्पन्न हुआ? यह संसार क्यों सृष्ट हुआ? भगवान् यदि हैं तो फिर उन्होंने क्यों एक नादान बच्चेकी तरह यह व्यर्थ परिश्रम किया, यह नीरस उपहास आरंभ किया? आत्मा ही यदि सत्य हो और जगत् माया ही हो तो फिर इस आत्माने ही क्यों इस जघन्य स्वप्नको अपने निर्मल अस्तित्वपर आरोपित किया? नास्तिक कहते हैं, भगवान् भी नहीं हैं, आत्मा भी नहीं है, है केवल एक अंधशक्तिकी अंध क्रिया। यह भी आखिर कैसी बात है? किसकी शक्ति है? कहांसे उत्पन्न हुई है? क्यों यह अंध और उन्मत्त है? इन सब प्रश्नोंकी संतोषजनक मीमांसा किसीने नहीं की है, न तो ईसाईने, न बौद्धने, न अद्वैतवादीने न नास्तिकने, न जड़-विज्ञानवादीने ही की है; सभी इस विषयमें चुप हैं अथच इस समस्याकी उपेक्षा कर इसे टाल देनेकी चेष्टा करते हैं। एकमात्र उपनिषदें और तदनु-यायी गीता ही इस प्रकार टाल-मटोल करना नहीं चाहतीं। इसी-लिये कुरुक्षेत्रके युद्धमें गीता गायी गयी। घोर सांसारिक कर्म है, गुरुहत्या, भ्रातृहत्या, आत्मीयहत्या इस कर्मका उद्देश्य है। इस अगणितप्राणिसंहारक युद्धका प्रारंभ हो रहा है, अर्जुन हतबुद्धि हो-

कर गांडीव धनुष हाथसे छोड़ देते हैं और कातर स्वरमें कहते हैं :—

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

"हे केशव ! मुझे इस घोर कर्ममें क्यों नियुक्त करते हो ?" इसके उत्तरमें उस युद्धके कोलाहलके अंदर ही वज्र-गंभीर स्वरमें भगवान्के मुंहसे यह महागीत प्रकट होता है।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।

★

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

★

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

★

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।

★

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

★

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

★

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

★

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

★

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।

★

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

"इसलिये तू कर्म ही करता रह, तेरे पूर्वपुरुष पहलेसे जो कर्म करते आ रहे हैं, तुझे भी उसी कर्मको करना होगा।...योगस्थ होकर और आसक्तिका त्याग कर कर्म कर।...जिसकी बुद्धि योगस्थ हो जाती है, वह इस कर्मक्षेत्रमें ही पाप-पुण्यका अतिक्रमण कर जाता है, अतएव योगकी प्राप्तिके लिये साधना कर, योग ही कर्मकी कुशलता है।....जो मनुष्य अनासक्त होकर कर्म करता है वह निश्चय ही परम भगवान्को प्राप्त करता है।...ज्ञानपूर्ण हृदयसे अपने समस्त कर्मोंको मेरे ऊपर छोड़ दे, कामनाको छोड़कर, अहंकारको छोड़कर, दुःखरहित होकर युद्ध कर।...जो मुक्त है, आसक्तिरहित है, जिसका चित्त सदा ज्ञानमें निवास करता है, जो यज्ञार्थ कर्म करता है उसके समस्त कर्म बंधनका कारण न हो,

उसी क्षण पूर्ण रूपसे मेरे अंदर विलीन हो जाते हैं।...समस्त प्राणियोंका अंतर्निहित ज्ञान अज्ञानसे आवृत रहता है, इसीलिये वे सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि द्वंद्वोंकी सृष्टि कर मोहमें जा गिरते हैं। मुझे समस्त लोकोंका महेश्वर, यज्ञ, तपस्या प्रभृति सब प्रकारके कर्मोंका भोक्ता तथा प्राणिमात्रका सखा और बंधु जाननेसे परम शांति प्राप्त होती है।...मैंने तेरे शत्रुओंका वध कर दिया है, तू यंत्र बनकर उनका संहार कर, दुःखित मत हो, युद्धमें लग जा, विपक्षियोंको तू रणमें जीतेगा।...जिसका अंतःकरण अहंज्ञानसे शून्य है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह यदि समस्त जगत्का संहार करे तो भी वह हत्या नहीं करता, उसे किसी प्रकारका पापरूप बंधन नहीं होता।"

यहां प्रश्न टालनेका, प्रश्नसे मुंह मोड़नेका कोई लक्षण नहीं। प्रश्नको स्पष्ट रूपमें सामने रखा गया है। भगवान् क्या हैं, जगत् क्या है, संसार क्या है, धर्मपथ क्या है, इन सभी प्रश्नोंका उत्तर संक्षेप में दिया गया है। फिर भी संन्यासकी शिक्षा नहीं, बल्कि कर्मकी शिक्षा देना ही गीताका उद्देश्य है। इसी बातमें गीताकी सार्वजनीन उपयोगिता है।

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—

हे संजय, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये एकत्रित होकर मेरे पक्ष और पाण्डवपक्षने क्या किया ?

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजयने कहा—

उस समय राजा दुर्योधन व्यूहबद्ध पांडवसेनाको देखकर आचार्य (द्रोणाचार्य) के समीप गये और उनसे कहने लगे।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! अपने मेधावी शिष्य द्रुपदतनय धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहबद्ध इस महती पांडवसेनाको देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुंगवः ।।५।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।।६।।

इस विराट् सेनामें भीम और अर्जुनके समान महाधनुर्धर वीर पुरुष हैं,–युयुधान (सात्यकि), विराट् और महारथी द्रुपद,

धृष्टकेतु, चेकितान और महाप्रतापी काशिराज, पुरुजित् कुंति-भोज और नरपुंगव शैव्य,

विक्रमशाली युधामन्यु और प्रतापवान् उत्तमौजा, सुभद्रातनय अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्रगण, ये सभी महायोद्धा हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।।७।।

हे द्विजोत्तम! हम लोगोंमें जो असाधारण-शक्तिसंपन्न हैं, जो मेरी सेनाके नायक हैं, उनके नाम मैं आपको स्मरण करानेके लिये कहता हूं, सुनिये।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ।।८।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥९॥

आप, भीष्म, कर्ण और समरविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्ततनय भूरिश्रवा और जयद्रथ,

और भी अनेक वीर पुरुषोंने मेरे लिये प्राणकी ममता छोड़ दी है, ये सभी युद्ध करनेमें दक्ष और नानाविध अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥१०॥

हमारा यह सैन्यबल एक तो अपरिमित है, उसपर भीष्म हमारे रक्षक हैं; उनका सैन्यबल परिमित है, भीम ही उनकी रक्षाके आशास्थल हैं।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

अतएव आप सब लोग युद्धके समस्त प्रवेशस्थानोंपर अपने-अपने निर्दिष्ट सैन्यभागमें रहकर भीष्मकी रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

(तब) दुर्योधनके प्राणोंमें हर्ष उत्पन्न करते हुए, कुरुवृद्ध पिता-

मह भीष्मने सिंहके समान उच्च स्वरसे रणस्थलको ध्वनित करते हुए महाप्रतापके साथ शंखध्वनि की।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तब शंख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख आदि युद्धके बाजे अकस्मात् बजने लगे, जिनके तुमुल शब्दसे रणक्षेत्र गूंज उठा।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

तदुपरांत श्वेत घोड़ोंसे युक्त विशाल रथमें खड़े हुए माधव (श्रीकृष्ण) और पांडुपुत्र अर्जुनने अपना-अपना दिव्य शंख बजाया।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

हृषीकेशने पांचजन्य, धनंजयने देवदत्त, भीमकर्मा वृकोदरने पौंड्र नामक महाशंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनंतविजय नामक शंख तथा नकुल और सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

परम धनुर्धर काशीराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, अपराजित योद्धा सात्यकि,

द्रुपद, द्रौपदीके पुत्रगण, महाबाहु सुभद्रातनय, सबने चारों ओरसे अपना-अपना शंख बजाया।

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

उस महाशब्दने आकाश और पृथ्वीको तुमुल शब्दसे प्रतिध्वनित कर धार्त्तराष्ट्रों (कौरवों) का हृदय विदीर्ण कर दिया।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

उस समय कौरवोंको व्यवस्थित देखकर, कपिध्वज अर्जुनने शस्त्रसंपात आरंभ होनेके समय धनुष उठाकर हृषीकेशसे इस प्रकार कहा।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अर्जुनने कहा——

हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा करो।

तबतक मैं युद्धकी इच्छासे आये हुए इन विपक्षियोंका निरीक्षण करूं। मैं जानना चाहता हूं कि किनके साथ मुझे इस रणोत्सवमें युद्ध करना होगा।

देखूं कि ये युद्धकामी लोग कौन हैं जो युद्धक्षेत्रमें दुर्बुद्धि दुर्योधनका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे आये हुए हैं।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

संजयने कहा–

गुडाकेशकी यह बात सुनकर हृषीकेश दोनों सेनाओंके बीचमें

उस उत्तम रथको खड़ा करके

भीष्म, द्रोण और समस्त राजाओंके सामने उपस्थित होकर बोले, "हे पार्थ ! समवेत कौरवोंको देख।"

तत्रापश्यत् स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।।२६।।

उस रणस्थलमें पार्थने देखा कि पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, सखा, श्वसुर, सुहृद् जितने भी आत्मीय और स्वजन हैं, वे सब दोनों परस्परविरोधी सेनाओंमें खड़े हैं।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।२७।।

उन सब बंधु-बांधवोंको इस प्रकार अवस्थित देखकर कुंतीपुत्र तीव्र कृपासे अभिभूत हो गये और विषादग्रस्त हृदयसे इस प्रकार बोले—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ।।२८।।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।।२९।।

अर्जुनने कहा—

हे कृष्ण! इन सव स्वजनोंको युद्धके लिये विद्यमान देखकर मेरे शरीरके सभी अंग शिथिल हो रहे हैं, मुंह सूखा जा रहा है,

मेरे समस्त शरीरमें कंप और रोमांच हो रहा है, गांडीव हाथसे गिरा जा रहा है, मेरी त्वचा मानो आगमें जल रही है।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥३०॥

मैं खड़ा होनेमें भी असमर्थ हो रहा हूं, मेरा मन मानो चक्कर खा रहा है; हे केशव! मैं सभी अशुभ लक्षणोंको देख रहा हूं।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

युद्धमें स्वजनोंको मारकर कोई कल्याण नहीं देखता हूं; हे कृष्ण! मुझे विजय भी नहीं चाहिये, राज्य भी नहीं चाहिये, सुख भी नहीं चाहिये।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥३३॥

हे गोविंद! कहो, राज्यसे हमें क्या लाभ है? भोगसे क्या

लाभ है? जीवनका क्या प्रयोजन है? जिनके लिये राज्य, भोग और जीवन वांछनीय है,

वे ही जीवन और धनका त्याग कर इस रणक्षेत्रमें उपस्थित हैं,—आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह,

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥३४॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥३५॥

मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी संबंधी उपस्थित हैं। हे मधुसूदन! ये यदि मेरा वध भी करें तो भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता;

तीनों लोकोंके राज्यके लोभके लिये भी नहीं मारना चाहता, पृथ्वीके आधिपत्यकी तो बात ही क्या? हे जनार्दन! कौरवोंका संहार करके हमारे मनको क्या सुख मिल सकता है?

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३६॥

ये आततायी हैं, तथापि इनका वध करनेसे हमारे मनमें पापको ही आश्रय मिलेगा। अतएव धार्त्तराष्ट्रगण जब हमारे आत्मीय हैं, तब हमें इनका संहार करनेका अधिकार नहीं है। हे माधव!

स्वजनोंका वध करके हम कैसे सुखी होंगे ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३७॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३८॥

यद्यपि लोभसे इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जानेके कारण ये लोग कुलनाशके दोषको और मित्रका अनिष्ट करनेके महापापको नहीं समझ रहे हैं,

तथापि, हे जनार्दन ! हम लोग कुलक्षयजनित दोषको समझते हैं, हम क्यों न विवेक करें, हम इस पापसे क्यों न निवृत्त हों ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

कुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म विनाशको प्राप्त होता है, धर्मका नाश होनेसे अधर्म सारे कुलको अभिभूत कर लेता है।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥४०॥

हे कृष्ण ! अधर्मकी वृद्धि होनेसे कुलकी स्त्रियां दुश्चरित्रा हो जाती हैं। कुलकी स्त्रियां जब दुश्चरित्रा हो जाती हैं तब वर्ण-संकरकी सृष्टि होती है।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४१॥

वर्णसंकर कुलको और कुलनाशक लोगोंको नरकमें ले जानेका कारण होता है; क्योंकि उनके पितृगण पिण्डोदकसे वंचित होकर पितृलोकसे नीचे गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४२॥

कुलनाशकोंके इन वर्णसंकरोत्पादक दोषोंके कारण सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म नष्ट हो गये हैं, उन मनुष्योंके लिये नरकमें निवास करना निर्दिष्ट होता है, यही मैं प्राचीन काल-से सुनता आ रहा हूं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥

अहो! हम लोगोंने बहुत बड़ा पाप करनेका निश्चय किया था जो राज्यसुखके लोभसे स्वजनोंका वध करनेके लिये उद्योग कर रहे थे।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥

यदि मुझ अशस्त्र और प्रतिकार न करनेवालेको सशस्त्र धार्त्त-राष्ट्रगण रणमें मार भी डालें, तो भी इससे उसकी अपेक्षा मेरा अधिक मंगल होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६॥

संजयने कहा——

ऐसा कहकर अर्जुन शोकसे उद्विग्न चित्तके साथ युद्धकालमें धनुष बाण छोड़कर रथमें बैठ गये।

संजयको दिव्य दृष्टिकी प्राप्ति

गीता महाभारतके महायुद्धके आरंभमें कही गयी थी। इसीलिये हम देखते हैं कि गीताके पहले ही श्लोकमें राजा धृतराष्ट्र दिव्यचक्षुप्राप्त संजयसे युद्धकी बात पूछ रहे हैं, दोनों ओरकी सेनाएं युद्धक्षेत्रमें उपस्थित हैं और वृद्ध राजा यह जाननेके लिये उत्सुक हैं कि दोनों पक्षके लोगोंने सबसे पहले क्या किया। यहांपर संजयके दिव्य चक्षु प्राप्त करनेकी जो बात आती है उसे आधुनिक

भारतके अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग कवि-कल्पनाके सिवा और कुछ भी नहीं मानते। यदि हम कहते कि अमुक व्यक्ति दूरदृष्टि (clairvoyance) और दूरश्रवण (clairaudience) के द्वारा किसी दूरस्थ रणक्षेत्रका रोमांचकारी दृश्य तथा महारथियोंका सिंहनाद इंद्रियगोचर कर सका था तो संभवतः इस बातको लोग उतना अविश्वासयोग्य न भी मानते। परंतु जब हम यह कहते हैं कि व्यासदेवने यह शक्ति संजयको दी थी तो लोग इस बातको कपोलकल्पना कहकर ही उड़ा देना चाहते हैं। यदि हम कहते कि एक विख्यात यूरोपीय विज्ञानविद्ने अमुक व्यक्तिको स्वप्नावस्था-प्राप्त (Hypnotised) कराकर उसके मुंहसे उस दूर घटनाका हाल जान लिया था तो जिन लोगोंने पाश्चात्य हिप्नोटिज्म (Hypnotism) की बात ध्यानपूर्वक पढ़ी है वे संभवतः विश्वास कर लेते। अथच हिप्नोटिज्म योगशक्तिका ही एक निकृष्ट और त्याज्य अंगमात्र है। मनुष्यके अंदर ऐसी अनेक शक्तियां हैं जिन्हें पुराकालमें सभ्य जातियां जानती थीं और उनका विकास किया करती थीं; पर अब कलि-संभूत अज्ञान-स्रोतमें वे सब विद्याएं प्रवाहित हो गयी हैं, केवल अंशतः ही थोड़े से लोगोंके अंदर वे गुप्त और गोपनीय ज्ञानके रूपमें रक्षित होती आ रही हैं। स्थूल इंद्रियोंके परे सूक्ष्म दृष्टि नामक एक सूक्ष्मेंद्रिय है जिसके द्वारा हम उन वस्तुओंको और उस ज्ञानको आयत्त कर सकते हैं जो स्थूल इंद्रियों-की पहुंचके परे हैं। उसके द्वारा हम सूक्ष्म वस्तु देख सकते हैं, सूक्ष्म

शब्द सुन सकते हैं, सूक्ष्म गंधका आघ्राण ले सकते हैं, सूक्ष्म पदार्थका स्पर्श कर सकते हैं तथा सूक्ष्म आहारका आस्वाद ग्रहण कर सकते हैं। इस सूक्ष्म दृष्टिके चरम परिणामको ही दिव्य चक्षु कहते हैं, उसके प्रभावसे दूरस्थ, गुप्त अथवा अन्य लोकोंकी सभी बातें हमें ज्ञान-गोचर होती हैं। परम योगशक्तिके आधार महामुनि व्यास यह दिव्य चक्षु संजयको देनेमें समर्थ थे—इस बातमें अविश्वास करनेका हम कोई भी कारण नहीं देखते। जब हमें पाश्चात्य हिप्नोटिस्ट (Hypnotist) की अद्भुत शक्तिमें अविश्वास नहीं होता तब भला हमें अनुपम ज्ञानी व्यासदेवकी शक्तिमें ही क्यों अविश्वास हो? शक्तिमान्‌की शक्ति दूसरेके शरीरमें संचारित हो सकती है, इसके असंख्य प्रमाण इतिहासके प्रत्येक पृष्ठपर और मनुष्य-जीवनके प्रत्येक कार्यमें मिलते हैं। नेपोलियन, इतो इत्यादि कर्मवीर पुरुषोंने उपयुक्त पात्रोंमें शक्ति-संचार करके अपने कार्यके लिये सहकर्मी तैयार किये थे। अति सामान्य योगी भी कोई सिद्धि प्राप्त करके कुछ क्षणके लिये या किसी कार्य-विशेषमें प्रयोग करनेके लिये दूसरोंको अपनी सिद्धि दे सकते हैं, व्यासदेव तो जगत्‌के श्रेष्ठ मनीषी और असामान्य योगसिद्ध पुरुष थे। वास्तवमें दिव्य चक्षुका होना कपोलकल्पना नहीं है, बल्कि एक वैज्ञानिक सत्य है। हम जानते हैं, आंखें नहीं देखतीं, कान नहीं सुनते, नाक नहीं सूंघती, त्वचा स्पर्श नहीं करती, रसना स्वाद नहीं लेती, बल्कि मन ही देखता, सुनता, सूंघता, स्पर्श करता और स्वाद लेता

है। दर्शनशास्त्रमें और मनोविज्ञानमें यह सत्य बहुत दिनोंसे स्वीकृत होता आ रहा है, हिप्नोटिज्ममें वैज्ञानिक प्रयोगके द्वारा इसकी परीक्षा की गयी है और यह सत्य प्रमाणित हुआ है कि आंखें बंद रहनेपर भी दर्शनेंद्रियका कार्य किसी नाड़ीके द्वारा संपादित किया जा सकता है। उससे यही सिद्ध होता है कि चक्षु इत्यादि स्थूल इंद्रियां ज्ञानप्राप्तिके केवल सुविधाजनक उपाय हैं, स्थूल शरीरके सनातन अभ्याससे बद्ध होनेके कारण हम उनके दास हो गये हैं। किंतु वास्तवमें चाहे किसी भी शारीरिक प्रणालीके द्वारा उस ज्ञानको मनतक पहुंचाया जा सकता है––जैसे एक अंधा मनुष्य स्पर्शके द्वारा पदार्थोंकी आकृति और स्वभावकी ठीक-ठीक धारणा करता है। किंतु अंधेकी दृष्टि और स्वप्नावस्थाप्राप्त व्यक्तिकी दृष्टिमें यह भेद दिखायी देता है कि स्वप्नावस्थाप्राप्त व्यक्ति पदार्थोंकी प्रतिमूर्ति मनके अंदर देखता है। इसीको दर्शन कहते हैं। वास्तवमें हम अपने सामने रखी हुई पुस्तकको नहीं देखते, उस पुस्तककी जो प्रतिमूर्ति हमारी आंखोंमें चित्रित होती है उसीको देखकर मन कहता है कि मैंने पुस्तक देख ली। किंतु स्वप्नावस्थाप्राप्त व्यक्तिके दूरस्थित पदार्थ या घटनाको देखने और सुननेसे यह भी सिद्ध होता है कि किसी पदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये किसी शारीरिक प्रणालीकी आवश्यकता नहीं,––सूक्ष्म दृष्टिके द्वारा हम दर्शन कर सकते हैं। एक आदमी लंदनके एक मकानमें बैठकर, उस समय एडिनबरोमें जो घटना होती है उसे मनके भीतर देखता

है और ऐसे दृष्टांतोंकी संख्या आजकल दिन-दिन बढ़ रही है। इसीको सूक्ष्म दृष्टि कहते हैं। सूक्ष्म दृष्टि और दिव्य दृष्टिमें यह भेद है कि सूक्ष्मदर्शी अदृष्ट पदार्थकी प्रतिमूर्ति मनके अंदर देखता है और दिव्य दृष्टिके द्वारा हम उस दृश्यको मनके अंदर न देख शारीरिक स्थूल आंखोंके सामने देखते हैं, चिंतनस्रोतमें उस शब्दको न सुन शारीरिक कानोंसे सुनते हैं। इसका एक सामान्य दृष्टांत है स्फटिकके अंदर या स्याहीके अंदर समसामयिक घटनाको देखना। किंतु दिव्यचक्षुप्राप्त योगीको इस प्रकारके किसी उपकरणकी कोई आवश्यकता नहीं होती, वह इस शक्तिका विकास कर बिना किसी उपकरणके, देशकालका बंधन तोड़कर, अन्य देशों और अन्य समयोंकी घटना जान सकता है। देशबंधन तोड़नेके हम यथेष्ट प्रमाण पा चुके हैं, परंतु इस बातका इतना अधिक और इतना संतोषजनक प्रमाण अभी भी जगत्के सामने उपस्थित नहीं किया जा सका है कि कालका बंधन भी तोड़ा जा सकता है, मनुष्य त्रिकालदर्शी हो सकता है। तो भी देशबंधनको तोड़ना यदि संभव हो तो कालबंधनको तोड़ना असंभव नहीं कहा जा सकता। जो हो, इस व्यासप्रदत्त दिव्य चक्षुके द्वारा संजयने हस्तिनापुरमें बैठे-बैठे ही मानो कुरुक्षेत्रमें खड़े होकर वहां एकत्र धार्त्तराष्ट्रगण और पांडवगणको अपनी आंखों देखा, दुर्योधनकी उक्ति, भीष्म पितामहका भीषण सिंहगर्जन, पांचजन्यका कुरुध्वंसघोषक महाशब्द और गीतार्थद्योतक कृष्णार्जुन-संवाद अपने कानों सुना।

हमारे मतमें महाभारत रूपक नहीं है, कृष्ण और अर्जुन भी कविकल्पना नहीं हैं, गीता भी आधुनिक तार्किक या दार्शनिक लोगों-का सिद्धांत नहीं है। अतएव हमें यह सिद्ध करना होगा कि गीताकी कोई भी बात असंभव या युक्तिविरुद्ध नहीं है। इसी-लिये यहां दिव्य चक्षु प्राप्त करनेकी बातकी इतनी विस्तृत आलो-चना की गयी है।

दुर्योधनकी वाक्चातुरी

संजयने युद्धके उस प्राथमिक प्रयासका वर्णन करना आरंभ कर दिया। दुर्योधन पांडवसेनाकी व्यूहरचनाको देखकर द्रोणा-चार्यके निकट उपस्थित हुए। परंतु इस बातकी व्याख्या करना आवश्यक है कि वह द्रोणके पास क्यों गये। भीष्म सेनापति थे, युद्धकी बात उनसे कहना उचित था, किंतु कूटबुद्धि दुर्योधनके मनमें भीष्मके ऊपर विश्वास नहीं था। भीष्म पांडवोंके प्रति अनुरक्त थे, हस्तिनापुरके शांत्यनुमोदक दल (Peace-Party) के नेता थे; यदि पांडवों और धार्त्तराष्ट्रोंमें ही युद्ध होता तो भीष्म कभी अस्त्रधारण न करते; किंतु जब उन्होंने यह देखा कि कुरुगणके प्राचीन शत्रु और समकक्ष साम्राज्याभिलाषी पांचालोंने कुरुराज्यपर आक्रमण किया है तब उन कुरुजातिके प्रधान पुरुष, योद्धा और राजनीतिज्ञने सेनापतिके पदपर नियुक्त होकर अपने बाहुबलसे चिर-

रक्षित स्वजातिके गौरव और प्राधान्यकी अंतिम बार रक्षा करनेके लिये दृढ़ संकल्प किया। दुर्योधन स्वयं असुर-प्रकृतिके मनुष्य थे, रागद्वेष ही उनके सभी कार्योंका प्रमाण और कारण था, इसलिये कर्तव्यपरायण महापुरुषोंके मनका भाव समझनेमें वह असमर्थ थे, वह यह कभी विश्वास न कर सके कि कर्तव्य-बुद्धिसे प्रेरित होकर प्राणप्रतिम पांडवोंका भी युद्धक्षेत्रमें संहार करनेका बल इस कठिन तपस्वीके प्राणोंमें है। स्वदेशहितैषी पुरुष परामर्शके समय अपना मत प्रकट कर स्वजातिको अन्याय और अमंगलसे अलग करनेके लिये प्राणपण चेष्टा करते हैं, पर जब एक बार वह अन्याय और अमंगल लोगोंके द्वारा स्वीकृत हो जाता है तब वह अपने मतकी उपेक्षा करके अधर्मयुद्धके द्वारा भी स्वजातिकी रक्षा और शत्रुका दमन करते हैं। भीष्मने भी इसी पक्षका अवलंबन किया था। यह भाव भी दुर्योधनकी समझके बाहरका था। अतएव भीष्मके पास न जाकर उन्होंने द्रोणको स्मरण किया। द्रोण व्यक्तिगत रूपसे पांचालराजके घोर शत्रु थे, पांचाल-देशके राजकुमार धृष्टद्युम्नने गुरु द्रोणका वध करनेकी प्रतिज्ञा की थी, अतएव दुर्योधनने सोचा कि इस व्यक्तिगत वैरभावकी बात याद दिला देनेसे आचार्य शांति-का पक्ष छोड़कर पूर्ण उत्साहके साथ युद्ध करेंगे। उन्होंने स्पष्ट रूपसे यह बात नहीं कही। केवल उन्होंने धृष्टद्युम्नके नामका उल्लेख किया, फिर उसके बाद भीष्मको भी संतुष्ट करनेके लिये उन्हें कुरुराज्यका रक्षक और विजयका आशास्वरूप कहा। सबसे

पहले उन्होंने दूसरे पक्षके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके नामका उल्लेख किया और उसके बाद अपनी सेनाके कुछ नेताओंका नाम लिया, सबका नहीं, केवल द्रोण और भीष्मका ही नाम लेना उनकी उद्देश्य-सिद्धिके लिये काफी था, फिर भी उस उद्देश्यको छिपानेके लिये और चार-पांच नामोंका उल्लेख कर दिया। उसके बाद उन्होंने कहा–"मेरी सेना बहुत बड़ी है, भीष्म मेरे सेनापति हैं, पांडवोंकी सेना अपेक्षाकृत छोटी है, उनका आशास्थल भीमका बाहु-बल है, अतएव हमारी विजय क्यों नहीं होगी? पर भीष्म ही जब हमारे प्रधान आशास्थल हैं तब शत्रुओंके आक्रमणसे उनकी रक्षा करना हमारे लिये उचित है, उनके रहनेपर हमारी विजय अवश्यंभावी है।" बहुतसे लोग 'अपर्याप्त' शब्दका उलटा ही अर्थ करते हैं, वह युक्तिसंगत नहीं है; दुर्योधनकी सेना अपेक्षाकृत बड़ी है, उस सेनाके नेतागण शौर्य-वीर्यमें किसीसे भी कम नहीं हैं, तब भला आत्मश्लाघी दुर्योधन अपने बलकी निंदा कर निराशा उत्पन्न करने क्यों जायंगे? भीष्म दुर्योधनके मनका भाव और गूढ़ उद्देश्य समझ गये और इसलिये उसका संदेह दूर करनेके लिये उन्होंने सिंहनाद तथा शंखध्वनि की। दुर्योधनके हृदयमें इससे प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा, मेरा उद्देश्य सिद्ध हो गया, द्रोण और भीष्म दुविधा दूर कर युद्ध करेंगे।

पूर्वसूचना

ज्योंही भीष्मके गगनभेदी शंखनादसे रणक्षेत्र कंपित हो उठा, त्योंही उस विशाल कौरवसेनामें चारों ओर युद्धके बाजे बजने लगे तथा रथिगण रणोल्लाससे उन्मत्त होने लगे। इधर पांडवोंके श्रेष्ठ वीर और उनके सारथी श्रीकृष्णने भीष्मके युद्धाह्वानके उत्तरमें शंख-ध्वनि की तथा युधिष्ठिर आदि पांडवपक्षके वीरोंने अपना-अपना शंख बजाकर सेनाके हृदयमें रणचंडीको जागृत किया। उस महाशब्दने पृथ्वी और गगनमंडलको प्रतिध्वनित कर मानो धार्त्तराष्ट्रगणका हृदय विदीर्ण कर दिया। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि भीष्म आदि इस शब्दसे भयभीत हो गये; वे लोग वीर पुरुष थे, रणचंडीके आह्वानसे भला वे भयभीत क्यों होते? इस उक्तिके द्वारा कविने सबसे पहले अत्यंत उत्कट शब्दका शरीरके ऊपर जो बड़ा ही प्रबल प्रभाव पड़ता है उसका वर्णन किया है; जिस तरह बिजलीके गरजनेपर बहुत बार श्रोताको ऐसा मालूम होता है मानो उसका सिर दो टूक हो गया, उसी तरह इस रणक्षेत्रव्यापी महा-शब्दका प्रभाव पड़ा; और वह शब्द मानो धार्त्तराष्ट्रगणके भावी निधनकी घोषणा था; जिन हृदयोंको पांडवोंके शस्त्र विदीर्ण करेंगे उन्हींको उन (पांडवों) के शंखनादने पहले ही विदीर्ण कर दिया। युद्ध आरंभ हो गया, दोनों ओरसे शस्त्रसंपात होने लगा, उसी समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"तुम मेरे रथको दोनों सेनाओंके

बीचमें खड़ा करो, मैं यह देखना चाहता हूं कि कौन-कौनसे लोग दूसरे पक्षमें हैं, कौन लोग दुर्बुद्धि दुर्योधनका प्रिय कार्य करनेके लिये समागत हुए हैं, किन लोगोंके साथ मुझे युद्ध करना होगा।" अर्जुनका भाव यही था कि पांडवोंकी सारी आशा मुझपर है, मेरे द्वारा ही शत्रुपक्षके प्रधान-प्रधान योद्धा मारे जायेंगे, अतएव देखूं वे लोग कौन हैं। यहींतक अर्जुनमें पूरा-पूरा क्षत्रियभाव दिखायी देता है, कृपा या दुर्बलताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। भारतके बहुतसे श्रेष्ठ वीर पुरुष दूसरे पक्षकी सेनामें उपस्थित हैं, उन सबका संहार कर अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरको असपत्न (निष्कंटक) साम्राज्य देनेके लिये उद्यत हैं। परंतु श्री-कृष्ण जानते हैं कि अर्जुनके मनमें दुर्बलता है, अभी अगर चित्त शुद्ध न किया जाय तो किसी भी समय वह अकस्मात् चित्तसे निकलकर बुद्धिमें इस प्रकार अधिकार जमा लेगी कि उससे पांडवोंका बड़ा अनिष्ट हो जायगा, संभवतः सर्वनाश ही हो जायगा। इसीलिये श्रीकृष्णने ऐसे स्थानमें रथको स्थापित किया कि भीष्म, द्रोण इत्यादि अर्जुनके प्रियजन उनके सामने विद्यमान रहें और साथ-ही-साथ कौरवपक्षके दूसरे-दूसरे राजा भी दिखायी देते रहें, और उनसे कहा, देखो, समवेत कुरुजातिको देखो। यहां यह याद रखना चाहिये कि स्वयं अर्जुन भी कुरुजातिके थे, कुरु-वंशके गौरव थे, उनके सभी आत्मीय, प्रियजन, बाल्यसखा सभी उस कुरुजातिके थे, सो इस तरह श्रीकृष्णके मुंहके उन तीन मुख्य

शब्दोंका गभीर अर्थ और भाव सहज ही समझमें आ जाता है। उस समय अर्जुनने देखा कि जिनका संहार करके युधिष्ठिरका असपत्न राज्य संस्थापित करना होगा, वे तो और कोई नहीं, अपने ही प्रिय आत्मीय, गुरु, बंधु तथा भक्ति और प्रेमके पात्र हैं। उन्होंने देखा कि सारे भारतके ही क्षत्रिय एक-दूसरेके साथ प्रिय संबंध-द्वारा आबद्ध हैं अथच एक-दूसरेका संहार करनेके लिये इस भीषण रणक्षेत्रमें उपस्थित हुए हैं।

विषाद का मूल कारण

अर्जुनके विषादका मूल कारण क्या था? बहुतसे लोग इस विषादकी प्रशंसा कर श्रीकृष्णको कुमार्ग दिखानेवाला और अधर्म-का अनुमोदन करनेवाला कहते और उनकी निंदा करते हैं। उन-की धारणा यह है कि ईसाईधर्मका शांतिभाव, बौद्धधर्मका अहिंसा-भाव तथा वैष्णवधर्मका प्रेमभाव ही उच्च और श्रेष्ठ धर्म है, युद्ध और नरहत्या पाप है, भ्रातृहत्या और गुरुहत्या महापातक है और इसी धारणाके वशवर्त्ती होकर वे ऐसी असंगत बात कहते हैं। परंतु यह आधुनिक धारणा द्वापर-युगके महावीर पांडवके मनमें भी नहीं उठी थी; इस विचारका चिह्न भी अर्जुनकी बातमें नहीं दिखायी देता कि अहिंसाभाव श्रेष्ठ है या युद्ध, नरहत्या, भ्रातृ-हत्या और गुरुहत्या महापाप है और इस कारण युद्धसे विरत होना

उचित है। अवश्य ही उन्होंने यह कहा कि गुरुजनोंकी हत्या करनेकी अपेक्षा भिक्षावृत्तिका अवलंबन करना श्रेयस्कर है, उन्होंने यह भी कहा कि बंधु-बांधवकी हत्या करनेसे हमें पाप लगेगा, किंतु कर्मका स्वभाव देखकर उन्होंने यह बात नहीं कही, बल्कि कर्मका फल देखकर उन्होंने यह बात कही। इसी कारण श्रीकृष्णने उनका विषाद भंग करनेके लिये यह शिक्षा दी कि कर्मका फल नहीं देखना चाहिये, कर्मका स्वभाव देखकर यह निश्चय करना चाहिये कि वह कर्म उचित है या अनुचित। अर्जुनका पहला भाव यह था कि ये लोग मेरे आत्मीय हैं, गुरुजन, बंधु, बाल्यसखा हैं, सभी स्नेह, भक्ति और प्रेमके पात्र हैं, इनकी हत्या करके निष्कंटक राज्य प्राप्त करनेपर वह राज्यभोग कभी सुखप्रद नहीं हो सकता, बल्कि ऐसा करनेपर सारे जीवन दुःख और पश्चात्तापसे जलते रहना होगा, बंधु-बांधवशून्य पृथिवीका राज्य किसीके भी लिये वांछनीय नहीं है। अर्जुनका दूसरा भाव यह था कि प्रियजनोंकी हत्या करना अधर्म है, जो लोग द्वेषके पात्र हैं उन्हें ही युद्धमें मारना क्षत्रियका धर्म है। उनका तीसरा भाव यह था कि स्वार्थके लिये ऐसा कार्य करना धर्मके विरुद्ध है और क्षत्रियके लिये अनुचित है। चौथा भाव यह था कि भाईके साथ युद्ध करनेसे और भाईकी हत्या करनेसे कुलका नाश होगा और जाति नष्ट हो जायगी, इस तरहका कुफल उत्पन्न करना कुलरक्षक और जातिरक्षक क्षत्रिय वीरके लिये महापाप है। इन चार भावोंके अतिरिक्त अर्जुनके

विषादके मूलमें और कोई भाव नहीं है। इसको समझे बिना श्रीकृष्णका उद्देश्य और उनकी शिक्षाका अर्थ भी समझमें नहीं आ सकता। ईसाई-धर्म, बौद्ध-धर्म, वैष्णव-धर्मके साथ गीताके धर्मका क्या विरोध और क्या सामंजस्य है—यह हम पीछे बतलायेंगे। सूक्ष्म विचारद्वारा अर्जुनकी बातका भाव देखकर हम उनके मनका भाव दिखानेकी चेष्टा करेंगे।

वैष्णवी मायाका आक्रमण

अर्जुनने सबसे पहले अपने विषादका वर्णन किया। स्नेह और कृपाके अकस्मात् विद्रोह कर देनेके कारण महावीर अर्जुन अभिभूत और परास्त हो गये, क्षणभरमें उनके शरीरका सारा बल जाता रहा, सारे अंग शिथिल हो गये, चलनेतक की शक्ति नहीं रही, बलवान् हाथोंमें गांडीव धारण करनेकी क्षमता नहीं रही, शोकके उत्तापसे ज्वरके लक्षण दिखायी देने लगे, शरीर दुर्बल हो गया, त्वचा मानो आगमें जलने लगी, मुंह सूख गया, समस्त शरीर बड़े जोरसे कांपने लगा और मन मानो उस आक्रमणसे चक्कर खाने लगा। ऐसे भावका वर्णन पढ़कर और उसमें कविकी तेजस्विनी कल्पनाका बहुत अधिक विकास देखकर हम सबसे पहले केवल उस कवित्व-सौंदर्यका ही उपभोग कर चुप बैठ जाते हैं; किंतु जब हम इस भावको सूक्ष्म विचारके द्वारा देखते हैं तब हमारे मनमें इस

वर्णनका एक गूढ़ अर्थ प्रकट होता है। पहले भी अर्जुनने कौरवों-के साथ युद्ध किया था, किंतु उनके मनमें इस तरहका भाव कभी नहीं आया था, इस बार श्रीकृष्णकी इच्छासे हठात् यह आंतरिक उत्पात दिखायी पड़ा। मनुष्यजातिकी अनेक अत्यंत प्रबल वृत्तियां क्षात्र शिक्षा और उच्च आकांक्षाके द्वारा पराभूत और प्रतिबद्ध हो-कर अर्जुनके हृदयतलमें गुप्त रूपसे छिपी पड़ी थीं। निग्रहद्वारा चित्तशुद्धि नहीं होती, बल्कि विवेक और विशुद्ध बुद्धिकी सहायता-से, संयमसे ही चित्तशुद्धि होती है। निगृहीत वृत्तियां और भाव या तो इसी जन्ममें या दूसरे जन्ममें, किसी-न-किसी दिन चित्तमेंसे उभड़कर बुद्धिपर आक्रमण करते हैं और बुद्धिपर विजय प्राप्त कर उस मनुष्यके समस्त कर्मोंको उसके विकासके अनुकूल मार्गमें ले जाते हैं। इसी कारण जो मनुष्य इस जन्ममें दयावान् है वह दूसरे जन्ममें निष्ठुर होता है और जो इस जन्ममें कामी और दुश्चरित्र है वह दूसरे जन्ममें साधु और सच्चरित्र होता है। अतः निग्रह न कर विवेक और विशुद्ध बुद्धिकी सहायतासे सभी वृत्तियोंको निकालकर चित्तको शुद्ध करना चाहिये। इसीका नाम संयम है। ज्ञानके प्रभावसे जबतक तमोभाव दूर नहीं हो जाता तबतक संयम नहीं हो सकता। इसीलिये श्रीकृष्ण चाहते हैं कि वह अर्जुनके अज्ञानको दूरकर, उनके सुप्त विवेकको जगाकर, उनके चित्तको शुद्ध कर दें। परंतु जबतक त्याज्य वृत्तियोंको चित्तमेंसे जगाकर बुद्धिके सामने नहीं उपस्थित किया जाता तबतक बुद्धि

भी उन्हें निकाल बाहर करनेका अवसर नहीं पाती। और फिर युद्धमें ही अंतःस्थ दैत्य और राक्षसोंको विवेकके द्वारा नष्ट किया जाता है और तब विवेक बुद्धिको मुक्त करता है। योग-साधना-की प्रारंभिक अवस्थामें, वे सभी कुप्रवृत्तियां जो चित्तमें बैठी रहती हैं, साधककी बुद्धिपर बड़े जोरसे आक्रमण करती हैं और अनभ्यस्त साधकको भय और शोकसे विह्वल कर देती हैं, इसीको पाश्चात्य देशोंमें शैतानका प्रलोभन कहते हैं, यही मार (कामदेव) का आक्रमण है। परंतु यह भय और शोक अज्ञानके कारण होता है; यह प्रलोभन शैतानकी ओरसे नहीं आता, बल्कि यह भगवान्‌की ओरसे आता है। अंतर्यामी जगद्गुरु ही इन सब प्रवृत्तियों-का आवाहन करते हैं जिसमें कि वे आकर साधकपर आक्रमण करें, यह आवाहन उसके अमंगलके लिये नहीं, बल्कि उसके मंगलके लिये, उसके चित्तको शुद्ध करनेके लिये किया जाता है। सशरीर श्रीकृष्ण जिस प्रकार बाह्य जगत्‌में अर्जुनके सखा और सारथी थे उसी प्रकार उनके अंतरमें भी वह अशरीरी ईश्वर और अंतर्यामी पुरुषोत्तमके रूपमें विराजमान थे और उन्होंने ही इन सब गुप्त वृत्तियों और भावोंको बड़े जोरके साथ एक साथ ही अर्जुनकी बुद्धि-पर फेंका था। इस भीषण आघातको पाकर अर्जुनकी बुद्धि चक्कर खाने लगी और उससे उनमें जो सब प्रबल मानसिक विकार पैदा हुए वे सब ही, स्थूल शरीरमें जिन सब लक्षणोंका वर्णन कविने किया है, उनके द्वारा व्यक्त हुए। प्रबल अप्रत्याशित शोक

और दुःखसे इस प्रकारका शारीरिक विकार होता है, यह हम जानते हैं, यह बात मनुष्यजातिके साधारण अनुभवके बाहरकी नहीं है। भगवान्‌की वैष्णवी मायाने अर्जुनको भरपूर बलके साथ क्षणभरमें घेर लिया था, इसीसे उनमें इतना प्रबल विकार उत्पन्न हुआ। अधर्म जब दया, प्रेम आदि धर्मका कोमल आकार धारण करके आता है, अज्ञान जब ज्ञानका छद्मवेश धारण करके आता है, प्रगाढ़ अंधकारमय तमोगुण जब उज्ज्वल और विशद पवित्रताका मिथ्या रूप धारण करके कहता है कि "मैं सात्त्विक हूं, मैं ज्ञान हूं, मैं धर्म हूं, मैं भगवान्‌का प्रिय दूत हूं, पुण्यरूप और पुण्यप्रवर्त्तक हूं", तब यही समझना होगा कि भगवान्‌की वैष्णवी माया बुद्धिके अंदर प्रकट हुई है।

वैष्णवी मायाका लक्षण

इस वैष्णवी मायाके मुख्य अस्त्र हैं कृपा और स्नेह। मनुष्य-जाति की प्रेम-वृत्ति और स्नेह-वृत्ति विशुद्ध नहीं होती, शारीरिक और प्राणकोषागत विकारके कारण पवित्र प्रेम और दया कलुषित और विकलांग होती है। चित्त ही वृत्तियोंका वासस्थान है, प्राण भोगका क्षेत्र है, शरीर कर्मका यंत्र है और बुद्धि चिंतनका देश है। जब ये शुद्ध रहते हैं तब इन सबकी प्रवृत्ति स्वतंत्र पर पर-स्पर-अविरोधी होती है। चित्तमें भाव उठता है, शरीरमें तदनु-

सार कर्म होता है, बुद्धिमें तत्संबंधी विचार उठते हैं, प्राण उसी भाव, कर्म और चिंतनका आनंद लेता है और जीव साक्षिरूपसे प्रकृतिकी इस आनंदमयी क्रीड़ाको देखकर आनंदित होता है। अशुद्ध अवस्थामें प्राण शारीरिक या मानसिक भोगके लिये लालायित होता है और शरीरको कर्मका यंत्र न बना भोगका साधन बना देता है, शरीर भोगमें आसक्त होकर, बारंवार शारीरिक भोगके लिये दावा करता है, चित्त शारीरिक भोगकी कामनासे आक्रांत होकर निर्मल भावको ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है, कलुषित वासनायुक्त भाव चित्तसागरको विक्षुब्ध करता है और उस वासनाका कोलाहल बुद्धिको अभिभूत करके व्याकुल कर देता है, उसे बहरी बना देता है, अब उसमें निर्मल, शांत और अभ्रांत चिंतनको ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं रह जाती, चंचल मनके वशीभूत हो वह भ्रम, विचार-विप्लव तथा असत्यके प्राबल्यके कारण अंधी हो जाती है। जीव भी इस बुद्धिभ्रंशके कारण ज्ञानशून्य होकर साक्षिभाव और निर्मल आनंद-भावसे वंचित होकर आधारके साथ अपना एकत्व स्वीकार करता है और "मैं देह हूं, मैं प्राण हूं, मैं चित्त हूं, मैं बुद्धि हूं" आदि भ्रांत धारणाओंके कारण शारीरिक और मानसिक सुख-दुःखसे सुखी और दुःखी होता है। अशुद्ध चित्त इस उत्पातका मूल है, अतएव चित्तशुद्धि उन्नतिकी पहली सीढ़ी है। यह अशुद्धि केवल तामसिक और राजसिक वृत्तिको ही कलुषित करके चुप नहीं बैठ जाती, बल्कि यह सात्त्विक

वृत्तिको भी कलुषित करती है। "अमुक मनुष्य मेरे शारीरिक और मानसिक भोगकी सामग्री है, वह मुझे अच्छा लगता है, मुझे वही चाहिये, उसके विरहसे मुझे क्लेश होता है", यह कहना अशुद्ध प्रेमका द्योतक है, इससे यह सूचित होता है कि शरीर और प्राणने चित्तको कलुषित करके निर्मल प्रेमको विकृत कर दिया है। बुद्धि भी इस अशुद्धिके कारण भ्रांत होकर यह कहती है कि "अमुक मेरी स्त्री है, भाई है, बहिन है, सखा है, आत्मीय है, मित्र है, उसे ही प्यार करना होगा, यही प्रेम पुण्यमय है, यदि मैं इस प्रेमके प्रतिकूल कोई कार्य करूं तो वह पाप होगा, क्रूरता होगी, अधर्म होगा।" इस प्रकारके अशुद्ध प्रेमके फलस्वरूप इतनी बलवती कृपा होती है कि प्रियजनोंको कष्ट देने, प्रियजनोंका अनिष्ट करनेकी अपेक्षा धर्मको ही तिलांजलि देना श्रेयस्कर मालूम होता है, अंतमें हम धर्मको अधर्म कहकर अपनी दुर्बलताका इसलिये समर्थन करते हैं कि कहीं इस कृपाको आघात न पहुंचे। इस प्रकारकी वैष्णवी मायाका प्रमाण अर्जुनकी प्रत्येक बातमें मिलता है।

इस भावकी क्षुद्रता

अर्जुनकी पहली बात यह थी कि ये लोग हमारे स्वजन हैं, आत्मीय हैं, स्नेहके पात्र हैं, युद्धमें इनकी हत्या करके हमारा कौनसा हित होगा? विजेताका गर्व, राजाका गौरव, धनीका सुख

प्राप्त होगा? मैं इन सब सारहीन स्वार्थोंको नहीं चाहता। लोगोंको राज्य, भोग और जीवन क्यों प्रिय होता है? लोग यह समझते हैं कि हमारे स्त्री, पुत्र, कन्या है, हम आत्मीय-स्वजनोंको सुखसे रख सकेंगे, बंधु-बांधवोंके साथ ऐश्वर्यका सुख भोगेंगे और आनंदके साथ दिन बितायेंगे और इस कारण सुख और महत्त्व उनके लोभके विषय हो जाते हैं। परंतु जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही हमारे शत्रु बनकर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हैं। ये लोग हमारा वध करनेको तैयार हैं, पर हमारे साथ मिलजुलकर राज्य और सुखका उपभोग करनेके लिये तैयार नहीं हैं। परंतु ये भले ही मेरा वध करें, पर मैं कभी इनका वध नहीं करूंगा। इनकी हत्यासे यदि मुझे तीनों लोकोंका राज्य भी मिले तो भी मैं यह काम नहीं कर सकता, पृथ्वीके असपत्न साम्राज्यकी तो गिनती ही क्या है! स्थूलदर्शी लोग--

"न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।"

और--

"एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥"

--इस उक्तिसे मोहित होकर कहते हैं कि "वाह, अर्जुनका

भाव कितना महान्, उदार, निःस्वार्थ और प्रेममय है! रक्तसे भरे भोग और सुखकी अपेक्षा पराजय, मरण और चिरदुःख उन्हें पसंद हैं।" परंतु, यदि हम अर्जुनके मनोभावकी परीक्षा करें तो हमें ज्ञात होगा कि अर्जुनका भाव अत्यंत क्षुद्र है, दुर्बलतासूचक और कायरतापूर्ण है। कुलके हितके लिये, प्रियजनोंके प्रेममें पड़-कर, कृपाके वशीभूत होकर, रक्तपातके भयसे व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग करना एक अनार्यके लिये बड़ा ही उदार भाव हो सकता है, किंतु आर्यके लिये तो वह मध्यम कोटिका ही कहा जा सकता है, धर्म और भगवत्प्रीतिके लिये स्वार्थका त्याग करना ही उत्तम भाव है। फिर दूसरी ओर कुलके हितके लिये, प्रियजनके प्रेमके कारण, कृपाके परवश होकर, रक्तपातके भयसे धर्मका परित्याग करना अधम भाव है। धर्म और भगवत्प्रीतिके लिये स्नेह, कृपा और भयका दमन करना ही यथार्थ आर्यभाव है। अपने क्षुद्र भावके समर्थनके लिये अर्जुन स्वजनोंकी हत्याका पाप दिखाकर कहने लगे कि "कौरवोंका वध करनेसे हमें कौनसा सुख, कौनसी मनस्तुष्टि हो सकती है? ये हमारे बंधु-बांधव हैं, आत्मीय-स्वजन हैं; यद्यपि ये अन्याय करते हैं और हमारे साथ शत्रुता करते हैं, हमारा राज्य छीनते हैं और सत्यका गला घोंटते हैं, फिर भी इनका वध करनेसे हमें पाप ही होगा, सुख नहीं मिलेगा।" यह सब कहनेके समय अर्जुन यह भूल गये थे कि वे धर्मयुद्धमें उतरे हैं, श्रीकृष्णने उन्हें उनके अपने या युधिष्ठिरके सुखके लिये कौरवों-

का वध करनेके कार्यमें नियुक्त नहीं किया है, बल्कि धर्मकी स्थापना, अधर्मका नाश, क्षत्रिय-धर्मका पालन, भारतमें धर्मपर प्रतिष्ठित एक महान् साम्राज्यकी स्थापना करना ही इस युद्धका उद्देश्य है; समस्त सुखको तिलांजलि देकर, आजीवन दुःख और यंत्रणा सहकर भी इस उद्देश्यको सिद्ध करना अर्जुनका कर्त्तव्य है।

कुलनाशकी बात

परंतु अपनी दुर्बलताका समर्थन करनेके लिये अर्जुनने एक और ऊंची युक्तिका आविष्कार किया; उन्होंने कहा कि इस युद्धमें कुल और जातिका नाश होगा इसलिये यह युद्ध धर्मयुद्ध नहीं, बल्कि अधर्मयुद्ध है। इस भ्रातृहत्यासे मित्रद्रोह होगा, अर्थात् जो लोग स्वभावसे अनुकूल और सहायक हैं उनका अनिष्ट होगा, और फिर अपने कुलका अर्थात् जिस कुरुनामक क्षत्रियवंश और जातिमें दोनों ही पक्षवालोंका जन्म हुआ है, उसका विनाश होगा। प्राचीन कालमें जातियां प्रायः रक्तसंबंधपर स्थापित थीं। एक बड़ा कुल बढ़ता-बढ़ता जातिमें परिणत हो जाता था, उदाहरणार्थ भोजवंश, कुरु-वंश आदि, जो भारत-जातिके अंतर्गत कुल-विशेष ही थे, पीछे एक-एक बलशाली जाति बन गये थे। कुलके अंदर जो भीतरी विरोध होता है और एक-दूसरेका अनिष्ट करनेकी जो प्रवृत्ति होती है, उसीको अर्जुनने मित्रद्रोह कहा था। एक तो यह मित्रद्रोह नैतिक

दृष्टिसे महापाप है, दूसरे अर्थनीतिक दृष्टिसे इस मित्रद्रोहमें यह एक महान् दोष लगा हुआ है कि कुलक्षय इसका अवश्यंभावी फल होता है। सनातन कुलधर्मका भले प्रकार पालन करनेसे कुलकी उन्नति और स्थिति होती है, जिस महत् आदर्श और कर्मश्रृंखलाको गार्हस्थ्य जीवन और राजनीतिक क्षेत्रमें पितृपुरुष स्थापित करते और सुरक्षित रखते आ रहे हैं, उस आदर्शकी हानि होने अथवा उस श्रृंखलाके शिथिल होनेसे कुलका अधःपतन होता है। जबतक कुल सौभाग्यवान् और बलशाली बना रहता है, तभीतक यह आदर्श और कर्मश्रृंखला सुरक्षित रहती है, किंतु कुलके क्षीण या दुर्बल हो जानेसे तमोभाव बढ़ जाता है और इस महान् धर्ममें शिथिलता आ जाती है, जिसके फलस्वरूप अराजकता, दुर्नीति आदि दोष कुलमें समा जाते हैं, कुलकी महिलाएं दुश्चरित्रा हो जाती हैं और कुलकी पवित्रता नष्ट हो जाती है, नीच जाति तथा नीच चरित्रवाले लोगोंके सहवाससे महान् कुलमें वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पितरोंकी प्रकृत संतति नष्ट होनेके कारण कुलनाशकोंको नरककी प्राप्ति होती है तथा अधर्मके बढ़ जानेसे, वर्णसंकरसंभूत नैतिक अधोगति हो जाने और नीच गुणोंके बढ़ जानेसे एवं अराजकता प्रभृति दोषोंके घुस आनेसे समस्त कुल भी विनाशको प्राप्त होता है और वह नरक-प्राप्तिके योग्य हो जाता है। जातिधर्म और कुलधर्म दोनों ही कुलका नाश होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं। जातिधर्मका यहां अर्थ है समस्त कुलकी समष्टि-

से जो महान् जाति बनती है उस जातिका परंपरागत सनातन आदर्श और उसकी कर्मश्रृंखला। इसके बाद अर्जुन एक बार फिर अपने प्रथम सिद्धांत और कर्त्तव्य-कर्म-विषयक अपने निश्चयको जनाकर युद्धकालमें गांडीवका त्यागकर रथमें बैठ गये। कविने इस अध्यायके अंतिम श्लोकमें इशारेसे यह दिखाया है कि शोकसे अर्जुनकी बुद्धिमें विप्लव होनेके कारण उन्होंने इस प्रकार क्षत्रियके लिये अनुचित और अनार्योचित आचरण करनेका संकल्प किया था।

विद्या और अविद्या

अर्जुनकी कुलनाशविषयक बातके अंदर हमें एक अत्यंत विशाल और उन्नत भावकी छाया दिखायी देती है, इस भावके साथ जो जटिल प्रश्न लगा हुआ है उसकी आलोचना करना गीताके व्याख्याकारके लिये अत्यंत आवश्यक है। अगर हम गीताका केवल आध्यात्मिक अर्थ ही खोजें, अपने जातीय, गृहस्थ-संबधी और व्यक्तिगत सांसारिक कर्म और आदर्शसे गीतोक्त धर्मको पूर्ण रूपसे अलग कर दें तो इससे उस भाव और उस प्रश्नका महत्त्व और प्रयोजनीयता नष्ट हो जाती है और गीतोक्त धर्मका सर्वव्यापी विस्तार संकुचित हो जाता है। शंकर आदि जिन लोगोंने गीताकी व्याख्या की है वे संसारत्यागी, दार्शनिक, अध्यात्मविद्यापरायण ज्ञानी अथवा भक्त थे, उन्होंने गीतामें अपने लिये आव-

श्यक ज्ञान और भावको ही खोजा तथा उनके लिये जिस बातकी आवश्यकता थी उसे प्राप्त कर वे संतुष्ट हो गये। जो लोग एक साथ ही ज्ञानी, भक्त और कर्मी हैं वे ही गीताकी गूढ़तम शिक्षाके अधिकारी हैं। गीताके वक्ता श्रीकृष्ण ज्ञानी और कर्मी थे, गीता-के पात्र अर्जुन भक्त और कर्मी थे, उनकी ज्ञानदृष्टिको खोलनेके लिये कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्णने इस शिक्षाकी घोषणा की। एक महान् राजनीतिक संघर्ष गीताशिक्षाका कारण था, उस संघर्षमें अर्जुनको एक महान् राजनीतिक उद्देश्यकी सिद्धिके यंत्र और निमित्तके रूप-में युद्धमें प्रवृत्त करना गीताका उद्देश्य था, युद्धक्षेत्र ही शिक्षाका स्थल था। श्रीकृष्ण श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ और योद्धा थे, धर्म-राज्य-संस्थापन उनके जीवनका प्रधान उद्देश्य था, अर्जुन भी क्षत्रिय राजकुमार थे, राजनीति और युद्ध उनका स्वभावनियत कर्म था। ऐसी अवस्थामें भला गीताके उद्देश्यको छोड़कर, गीता-के वक्ता, पात्र और उसके कारणको छोड़कर गीताकी व्याख्या करनेसे कैसे काम चल सकता है?

मानव-जगत्के पांच मुख्य आधार चिरकालसे विद्यमान हैं—व्यक्ति, परिवार, वंश, जाति और मानवसमष्टि। इन पांच आधारोंके ऊपर ही धर्म भी प्रतिष्ठित है। धर्मका उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। भगवत्प्राप्तिके दो मार्ग हैं—(१) विद्याको आयत्त करना तथा (२) अविद्याको आयत्त करना। ये दोनों ही आत्म-ज्ञान और भगवद्दर्शनके उपाय हैं। विद्याका मार्ग है ब्रह्मकी अभि-

व्यक्ति-रूप अविद्यामय प्रपंचका परित्याग कर सच्चिदानंदको प्राप्त करना या परब्रह्ममें लीन हो जाना। अविद्याका मार्ग है सर्वत्र आत्मा और भगवान्के दर्शन कर ज्ञानमय, मंगलमय, शक्तिमय परमेश्वरको बंधु, प्रभु, गुरु, पिता, माता, पुत्र, कन्या, दास, प्रेमी, पति, पत्नी-रूपमें प्राप्त करना। शांति है विद्याका उद्देश्य और प्रेम है अविद्याका उद्देश्य। परंतु भगवान्की प्रकृति विद्या-अविद्या-मयी है। अगर हम केवल विद्याके मार्गका ही अनुसरण करें तो हम विद्यामय ब्रह्मको प्राप्त करेंगे, अगर हम केवल अविद्याके मार्गका ही अनुसरण करें तो अविद्यामय ब्रह्मको प्राप्त करेंगे। परंतु जो विद्या और अविद्या दोनोंको ही आयत्त करता है वही पूर्ण रूपसे वासुदेवको प्राप्त करता है; वह विद्या और अविद्याके परे चला जाता है। जो विद्याके अंतिम लक्ष्यतक पहुंच जाता है वह विद्याकी सहायतासे अविद्याको आयत्त करता है। ईशोपनिषद्में यह महान् सत्य अत्यंत स्पष्ट रूपमें व्यक्त किया गया है। वहां कहा गया है——

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

"जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे अंधे अज्ञानरूप तममें

प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्याकी ही उपासना करते हैं वे उससे भी घने तममें प्रवेश करते हैं। जिन धीर ज्ञानियोंने हमें ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा दी है, उनके मुंहसे हमने सुना है कि विद्याका भी फल है, अविद्याका भी फल है, वे दोनों फल एक-दूसरेसे भिन्न हैं। जो विद्या और अविद्या दोनोंका ज्ञान आयत्त करते हैं वे अविद्याके द्वारा मृत्युको अतिक्रम कर विद्याके द्वारा अमृतमय पुरुषोत्तमके आनंदका उपभोग करते हैं।"

समस्त मानवजाति अविद्याका भोग करती हुई विद्याकी ओर अग्रसर हो रही है, यही वास्तविक क्रमविकास है। जो लोग श्रेष्ठ साधक, योगी, ज्ञानी, भक्त, कर्मयोगी हैं, वे इस महान् अभियानके अग्रगामी सैनिक हैं, वे दूरस्थित गन्तव्य स्थानपर तीव्र गतिसे पहुंच जाते हैं और फिर वहांसे लौटकर मनुष्यजातिको सुसंवाद सुनाते हैं, पथप्रदर्शन करते हैं, शक्ति वितरण करते हैं। भगवान्के अवतार और विभूतियां आकर पथको सुगम बनाते हैं, अनुकूल अवस्था उत्पन्न करते हैं, बाधाओंको दूर करते ह। अविद्यामें विद्या, भोगमें त्याग, संसारमें संन्यास, आत्माके अंदर सर्वभूत, सर्वभूतके अंदर आत्मा, भगवान्में जगत्, जगत्में भगवान्—यह उपलब्धि ही असली ज्ञान है, यही मानवजातिके गंतव्य स्थानकी ओर जानेका निर्दिष्ट पथ है। आत्मज्ञानकी संकीर्णता उन्नतिकी प्रधान बाधा है, देहात्मबोध, स्वार्थबोध उस संकीर्णताका मूल कारण है, अतएव दूसरेको आत्मवत् देखना उन्नतिका प्रथम सोपान

है। मनुष्य पहले व्यक्ति-रूपसे रहता है, अपनी व्यक्तिगत शारीरिक और मानसिक उन्नति, भोग और शक्तिके विकासमें रत रहता है। मैं देह हूं, मैं मन हूं, मैं प्राण हूं, देहका बल, सुख, सौंदर्य, मनकी क्षिप्रता, आनंद, स्वच्छता, प्राणका तेज, भोग, प्रफुल्लता जीवनका उद्देश्य है और उन्नतिकी चरमावस्था है–यही मनुष्यका प्राथमिक या आसुरिक ज्ञान है। इसकी भी आवश्यकता है, सबसे पहले देह, मन और प्राणका विकास और परिपूर्णता साधित करके फिर उस पूर्णविकसित शक्तिको दूसरोंकी सेवामें प्रयुक्त करना उचित है। इसीलिये आसुरिक शक्तिका विकास करना मानव-जातिकी सभ्यताकी प्रथम अवस्था है, पशु, यक्ष, राक्षस, असुर, पिशाचतक मनुष्यके मनमें, कर्ममें, चरित्रमें लीला करते हैं और विकासको प्राप्त होते हैं। उसके बाद मनुष्य आत्मज्ञानका विस्तार कर दूसरेको आत्मवत् देखना आरंभ करता है, दूसरोंके स्वार्थमें अपने स्वार्थको डुबा देना सीखता है। सबसे पहले वह परिवारको ही आत्मवत् देखता है, स्त्री-पुत्रकी प्राणरक्षाके लिये प्राणत्याग करता है, स्त्री-संतानके सुखके लिये अपने सुखको तिलांजलि देता है। उसके बाद वह वंश या कुलको आत्मवत् देखता है, कुलरक्षाके लिये प्राणत्याग करता है, स्वयं अपनी, अपनी स्त्री और संतानकी बलि चढ़ाता है, कुलके सुख और गौरवकी वृद्धिके लिये अपने और स्त्री-पुत्रादिके सुखको तिलांजलि देता है। उसके बाद वह जातिको आत्मवत् देखता है, जातिरक्षाके लिये प्राण-

त्याग करता है, अपनी, स्त्री-संततिकी, कुलकी बलि चढ़ाता है,—जैसे चित्तौड़के राजपूत कुलने सारी राजपूत जातिकी रक्षाके लिये वार-बार स्वेच्छासे अपना बलिदान किया था,—जातिके सुख और गौरवकी वृद्धिके लिये अपने, स्त्री-संतानके, कुलके सुख और गौरवकी वृद्धिको तिलांजलि देता है। उसके बाद वह समस्त मानवजातिको आत्मवत् देखता है, मानवजातिकी उन्नतिके लिये प्राणत्याग करता है, अपनी, स्त्री-संतानकी, कुलकी, जातिकी बलि दे देता है—मानव-जातिके सुख और उन्नतिके लिये अपने स्त्री-संतानके, कुलके, जातिके सुख और गौरवकी वृद्धिको तिलांजलि दे देता है। इस तरह दूसरेको आत्मवत् देखना, दूसरेके लिये अपनी और अपने सुखकी बलि दे देना बौद्धधर्म और बौद्धधर्म-प्रसूत ईसाई-धर्मकी प्रधान शिक्षा है। यूरोपकी नैतिकता इसी पथसे आगे बढ़ी है। प्राचीन कालके यूरोपियनोंने व्यक्तिको परिवारमें डुवाना, परिवारको कुलमें डुबाना सीखा था, आधुनिक यूरोपियनों-ने कुलको जातिमें डुबा देना सीखा है, जातिको मनुष्य-समष्टिके अंदर डुबाना अभी उनके लिये कठिन आदर्श माना जाता है, टाल-स्टाय इत्यादि मनीषिगण तथा सोशलिस्ट (समाजवादी), एना-र्किस्ट (अराजकतावादी) इत्यादि नवीन आदर्शोंके अनुमोदक दल इसी आदर्शको कार्यमें परिणत करनेके लिये उत्सुक हैं। यहींतक यूरोपकी दौड़ है। यूरोप अविद्याका उपासक है, प्रकृत विद्याको वह नहीं जानता—**अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।**

भारतमें विद्या और अविद्या दोनोंको ही मनीषियोंने आयत्त किया है। वे जानते हैं कि अविद्याकी पंचप्रतिष्ठाओंके अतिरिक्त विद्याकी प्रतिष्ठा भगवान् हैं, उनको जाने बिना अविद्या भी नहीं जानी जाती, आयत्त नहीं होती। अतएव केवल दूसरेको आत्मवत् न देख, उन्होंने 'आत्मवत् परदेहेषु' अर्थात् अपने अंदर और दूसरोंके अंदर समान भावसे भगवान्‌को देखा है। हम अपना उत्कर्ष करेंगे, हमारे उत्कर्षके द्वारा परिवारका उत्कर्ष साधित होगा; हम परिवारका उत्कर्ष करेंगे, परिवारके उत्कर्षसे कुलका उत्कर्ष साधित होगा; हम जातिका उत्कर्ष करेंगे, जातिके उत्कर्षसे मानवजातिका उत्कर्ष साधित होगा––यह ज्ञान आर्योंकी सामाजिक व्यवस्था और आर्य-शिक्षाके मूलमें निहित है। व्यक्तिगत त्याग आर्यका मज्जागत अभ्यास है, परिवारके लिये, कुलके लिये, समाजके लिये, मानवजातिके लिये, भगवान्‌के लिये त्याग करनेका अभ्यास हमारे स्वभावमें ही विद्यमान है। हमारी शिक्षामें जो दोष या कमी दिखायी देती है वह कुछ ऐतिहासिक कारणोंका फल है; जैसे, हम जातिको समाजके अंदर देखते हैं, समाजके हितमें व्यक्ति और परिवारका हित डुबा देते हैं, परंतु जातिके राजनीतिक जीवनका विकास करना हमारे धर्मके अंतर्गत मुख्य अंगके रूपमें नहीं स्वीकृत हुआ था। पाश्चात्य देशोंसे इस शिक्षाकी आमदनी करनी पड़ी है। अथच हमारी भी प्राचीन शिक्षाके अंदर, महाभारतमें, गीतामें, राजपुतानेके इतिहासमें, रामदासके

दासबोधमें यह शिक्षा हमारे अपने देशमें भी विद्यमान थी। विद्याकी अत्यधिक उपासनाके कारण, अविद्याके भयसे हम उस शिक्षाका विकास न कर सके और उसी दोषके कारण तमोभिभूत होकर जातिधर्मसे च्युत हो गये तथा कठिन दासत्व, दुःख और अज्ञानमें जा पड़े, अविद्याको भी आयत्त नहीं कर सके और विद्याको भी प्रायः खो ही बैठे। **ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।**

श्रीकृष्णका राजनीतिक उद्देश्य

कुल और जाति मानवसमाजके क्रमिक विकासके अंदर आनेवाली दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं, प्राचीन कालमें इनकी भिन्नता भारत तथा अन्यान्य देशोंमें इतनी परिस्फुट नहीं हुई थी। कुछ बड़े-बड़े कुलोंके एकत्र हो जानेसे ही एक जाति तैयार हो जाती थी। ये भिन्न-भिन्न कुल या तो एक ही पूर्वपुरुषके वंशधर होते अथवा भिन्न वंशोंमें उत्पन्न होनेपर भी प्रीति-संबंध स्थापित करनेके कारण एक ही वंशके माने जाते। समस्त भारत एक बड़ी जाति नहीं बन सका, किंतु जो बड़ी-बड़ी जातियां सारे देशमें फैली हुई थीं उनमें एक ही सभ्यता, एक ही धर्म, एक ही संस्कृतभाषा तथा विवाह आदि संबंध प्रचलित था। तथापि प्राचीन कालसे ही एकत्वकी चेष्टा होती आ रही थी, कभी तो कुरु, कभी पांचाल, कभी कोशल, कभी मगध-जाति देशका नेता या सार्व-

भौम राजा बनकर साम्राज्य चलाती, किंतु प्राचीन कुलधर्म और कुलकी स्वातंत्र्यप्रियता एकत्वके मार्गमें ऐसी प्रबल बाधा उत्पन्न करती कि वह चेष्टा कभी चिरकाल स्थायी न हो सकी। भारतमें यह एकत्व स्थापित करनेकी चेष्टा, असपत्न साम्राज्यकी स्थापना करनेकी चेष्टा पुण्यकर्म तथा राजाके कर्तव्य कर्मके अंदर गिनी जाती। इस एकत्वकी भावना इतनी प्रबल हो गयी थी कि चेदिराज शिशुपाल-जैसे एक तेजस्वी और दुर्दांत क्षत्रिय भी युधिष्ठिरके साम्राज्य-संस्थापनको पुण्यकर्म समझकर सहयोग देनेके लिये सहमत हुए थे। इसी प्रकारका एकत्व, साम्राज्य या धर्मराज्य स्थापित करना श्रीकृष्णका राजनीतिक उद्देश्य था। मगध-राज जरासंधने इससे पहले ही इसकी चेष्टा की थी, किंतु उनकी शक्ति अधर्म और अत्याचारके ऊपर प्रतिष्ठित थी, अतएव उसे क्षणस्थायी समझकर श्रीकृष्णने भीमके हाथों उनका वध कराकर उस चेष्टाको विफल कर दिया। श्रीकृष्णके कार्यमें सबसे प्रधान बाधक था अभिमानी और तेजस्वी कुरुवंश। कुरुजाति बहुत दिनों-से भारतकी नेतृस्थानीया जाति थी; जिसे अंग्रेजी में Hegemony अर्थात् बहुतसी एकसमान स्वाधीन जातियोंके बीच प्रधानत्व और नेतृत्व—कहते हैं, उसपर कुरुजातिका पुरुषपरंपरागत अधिकार हो गया था। श्रीकृष्ण यह समझते थे कि जबतक इस जातिका बल और गर्व अक्षुण्ण बना रहेगा, तबतक भारतमें कभी एकत्व स्थापित नहीं हो सकेगा। अतएव उन्होंने कुरुजातिका ध्वंस करने-

का संकल्प किया। परंतु इस बातको वह भूले नहीं कि भारतके साम्राज्यके ऊपर कुरुजातिका परंपरागत अधिकार है और जो धर्मतः किसीका प्राप्य है उससे उसे वंचित करना अधर्म है, इसलिये कुरुजातिके जो न्यायतः राजा और प्रधान थे, उन्हीं युधिष्ठिरको उन्होंने भावी सम्राट् पद-पर नियुक्त करनेके लिये मनोनीत किया। श्रीकृष्ण परम धार्मिक थे, समर्थ होनेपर भी उन्होंने स्नेहके वश होकर अपने प्रिय यादव-कुलको कुरुजातिके स्थानपर बैठानेकी चेष्टा नहीं की, पांडवोंमें सबसे बड़े युधिष्ठिरकी अवहेलना कर अपने प्रियतम सखा अर्जुनको उस पदपर नियुक्त नहीं किया। परंतु केवल अवस्था या पूर्वाधिकार देखनेसे अनिष्टकी संभावना रहती है, गुण और सामर्थ्य भी देखना होता है। राजा युधिष्ठिर यदि अधार्मिक, अत्याचारी या शक्तिहीन होते तो फिर श्रीकृष्णको दूसरा पात्र खोजनेके लिये बाध्य होना पड़ता। युधिष्ठिर जैसे वंशक्रमानुसार, न्यायपूर्ण अधिकार और देशके पूर्वप्रचलित नियमके अनुसार सम्राट् होनेके उपयुक्त थे, वैसे ही वह गुणमें भी उस पदके यथार्थ अधिकारी थे। उनकी अपेक्षा कहीं अधिक तेजस्वी और प्रतिभावान् बहुतसे बड़े-बड़े वीर राजा थे, किंतु केवल बल और प्रतिभासे ही कोई राज्यका अधिकारी नहीं होता। राजाको धर्मरक्षा करनी चाहिये, प्रजारंजन करना चाहिये, देशरक्षा करनी चाहिये। प्रथम दो गुणोंमें युधिष्ठिर अतुलनीय थे, वह धर्मपुत्र थे, दयावान् थे, न्यायपरायण, सत्यवादी,

सत्यप्रतिज्ञ और सत्यकर्मा थे, प्रजाको अत्यंत प्रिय थे। शेषोक्त आवश्यक गुणमें जो उनमें कमी थी उसे उनके दो वीर भाई भीम और अर्जुन पूरा करनेमें समर्थ थे। पंचपांडवोंके समान पराक्रमी राजा या वीर पुरुष तत्कालीन भारतमें दूसरा कोई नहीं था। अतएव जरासंधवधके द्वारा कंटक दूर कर श्रीकृष्णके परामर्शसे राजा युधिष्ठिरने देशकी प्राचीन प्रणालीका अनुसरण कर राजसूय यज्ञ किया और इस तरह वह देशके सम्राट् बने।

श्रीकृष्ण धार्मिक और राजनीतिविशारद थे। यदि देशके धर्म, देशकी प्रणाली, देशके सामाजिक नियमके अनुसार कार्य करनेसे उनके महत् उद्देश्यकी सिद्धि होनेकी संभावना हो तो फिर वह धर्मकी हानि, उस प्रणालीके विरुद्ध आचरण, उस नियमका भंग करने क्यों जायं? बिना कारण इस प्रकारका राज्यविप्लव और समाज-विप्लव करना देशके लिये अहितकर होता है। इसी कारण पहले पुरानी प्रणालीकी रक्षा करते हुए उन्होंने अपना उद्देश्य सिद्ध करनेका प्रयास किया। किंतु देशकी पुरानी प्रणालीमें यह दोष था कि उससे प्रयास सफल होनेपर भी उस फलके स्थायी होनेकी संभावना बहुत ही कम थी। उस समय जिसके पास सामरिक बल अधिक था, वह राजसूय यज्ञ करके सम्राट् तो हो सकता था, पर उसके वंशधर ज्योंही तेजहीन हो जाते त्योंही वह मुकुट उनके मस्तकसे स्वयं ही गिर पड़ता। जो तेजस्वी वीर जातियां पिता या पितामहके वशमें हुई थीं वे भला अब विजयीके पुत्र या

पौत्रकी अधीनता क्यों स्वीकार करतीं? वंशगत अधिकार नहीं माना जाता था, राजसूय यज्ञ अर्थात् असाधारण बलवीर्य ही उस साम्राज्यका मूल माना जाता था, जिसमें अधिक बलवीर्य होता वही यज्ञ करके सम्राट् बन जाता। अतएव साम्राज्यके स्थायी होनेकी कोई आशा नहीं रहती थी, थोड़े समयके लिये ही प्रधानता या Hegemony हो सकती थी। इस प्रथामें एक दोष और था और वह यह कि नये-नये सम्राटोंके अकस्मात् बलशाली और सर्व-प्रधान हो जानेके कारण देशके बलाभिमानी, असहिष्णु, तेजस्वी क्षत्रियोंके हृदयमें ईर्ष्या-वह्नि प्रज्वलित हो उठती; उनके मनमें यह विचार सहज ही उठनेकी संभावना थी कि ये प्रधान क्यों होंगे, हम क्यों नहीं होंगे। युधिष्ठिरके अपने कुलके क्षत्रिय इसी ईर्ष्यासे उनके विरोधी हुए थे, उनके पितृव्य (चचा) के संतानोंने इसी ईर्ष्याका सहारा लेकर बड़ी चतुराईके साथ उन्हें पदच्युत और निर्वा-सित कर दिया था। दोषयुक्त प्रणालीका दोष थोड़े दिनमें ही प्रकट हो गया।

श्रीकृष्ण जैसे ही धार्मिक थे वैसे ही राजनीतिज्ञ भी थे। वह कभी सदोष, अहितकर या समयके लिये अनुपयोगी प्रणाली, उपाय या नियमको बदलनेमें आगा-पीछा न करते। वह अपने युगके प्रधान विप्लवी थे। राजा भूरिश्रवाने श्रीकृष्णकी भर्त्सना करते समय समकालीन प्राचीनमतावलंबी बहुतसे भारतवासियोंका क्रोध प्रकट करते हुए कहा कि कृष्ण और कृष्णचालित यादवकुल कभी

धर्मके विरुद्ध आचरण करनेमें या धर्मको विकृत करनेमें कुंठित नहीं होता, जो कृष्णके परामर्शसे कार्य करेगा वह निश्चय ही शीघ्रताके साथ पापके गर्त्तमें जा गिरेगा। कारण, पुरातन रीतिसे आसक्त रहनेवाले रक्षणशील पुरुषोंके मतानुसार नवीन प्रयास करना ही पाप है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिरके पतनसे समझ गये—समझ क्यों गये, वह तो भगवान् थे, पहलेसे ही जानते थे—कि जो प्रथा द्वापरयुगके लिये उपयोगी है उसकी रक्षा कलिमें करना संभव नहीं। अतएव उन्होंने फिर वैसी चेष्टा नहीं की, कलिके लिये उचित भेददंडप्रधान राजनीतिका अनुसरण कर, गर्वित, दृप्त क्षत्रिय-जातिका बल नष्ट कर भावी साम्राज्यको निष्कंटक बनानेकी चेष्टा की। उन्होंने कुरुओंके समकक्ष, उनके पुराने शत्रु पांचालोंको कुरुवंशका ध्वंस करनेमें प्रवृत्त किया, जितनी जातियां कुरुओंके प्रति विद्वेष होनेके कारण, युधिष्ठिरके प्रेमके द्वारा या धर्मराज्य और एकत्व स्थापित करनेकी आकांक्षासे आकृष्ट हो सकती थीं, उन सबको वह पक्षमें खींच ले आये और युद्धकी तैयारी कराने लगे। संधिकी जो चेष्टा की गयी उसमें श्रीकृष्णका विश्वास नहीं था, वह जानते थे कि संधिकी कोई संभावना नहीं, संधि होनेपर भी वह स्थायी नहीं हो सकती, तथापि धर्मके लिये और राजनीतिके लिये उन्होंने संधिकी चेष्टा की। इसमें संदेह नहीं कि कुरुक्षेत्रका युद्ध श्रीकृष्णकी राजनीतिका फल था, कुरुध्वंस, क्षत्रियध्वंस और निष्कंटक साम्राज्य और भारतका एकत्वसंस्थापन उनका उद्देश्य था। धर्म-

राज्यकी स्थापनाके लिये जो युद्ध होता है वही धर्मयुद्ध है। वैसे ही धर्मयुद्धके ईश्वरनिर्दिष्ट विजेता, दिव्यशक्तिप्रणोदित महारथी अर्जुन थे। अर्जुनके अस्त्रत्याग करनेसे तो श्रीकृष्णका सारा राजनीतिक प्रयास ही नष्ट हो जाता, भारतमें एकता स्थापित ही न होती, और शीघ्र ही देशके भावी जीवनमें घोर अनर्थ उपस्थित हो जाता।

भ्रातृवध और कुलनाश

अर्जुनकी सारी युक्ति कुलके हितको सामने रखकर प्रयुक्त हुई थी, जातिके हितका विचार स्नेहके कारण उनके मनसे अपसारित हो गया था। वह कुरुवंशके हितका विचार करते हुए भारतका हित भूल गये थे, अधर्मके भयसे धर्मको तिलांजलि देनेके लिये कटिबद्ध हो गये थे। यह बात सभी जानते हैं कि स्वार्थके लिये भ्रातृवध करना महापाप है, परंतु भ्रातृप्रेमके वशीभूत होकर जातिका अनर्थ करनेमें सहायक होना, जातिका हित सिद्ध करनेसे मुंह मोड़ना उससे भी बड़ा पाप है। अर्जुन यदि शस्त्रत्याग करते तो अधर्मकी जीत होती, दुर्योधन भारतके प्रधान राजा और सारे देशके नेता होकर जातीय चरित्र और क्षत्रियकुलके आचरणको अपना बुरा दृष्टांत दिखाकर कलुषित कर देते, भारतके प्रबल, पराक्रमी कुल स्वार्थ, ईर्ष्या और विरोधप्रियताकी प्रेरणासे एक-दूसरेका विनाश

करनेके लिये तैयार होते, देशको एकत्रित और नियंत्रित करने-वाली, देशकी समस्त शक्तिको एकत्रित कर उसकी रक्षा करनेवाली कोई असपत्न धर्मप्रणोदित राजशक्ति न रह जाती, ऐसी अवस्थामें जो विदेशी आक्रमण उस समय भी रुद्ध समुद्रकी तरह भारतके ऊपर टूटकर उसे परिप्लावित करनेके लिये तैयार हो रहा था, वह असमयमें ही आकर आर्य-सभ्यताको नष्ट कर देता और इस तरह जगत्के भावी हितकी आशाको ही निर्मूल कर देता। श्री-कृष्ण और अर्जुनद्वारा प्रतिष्ठित साम्राज्यका नाश होनेके कारण, प्रायः दो हजार वर्ष बाद, भारतमें जो राजनीतिक उत्पात आरंभ हुआ था, वह उसी समय आरंभ हो जाता।

लोग कहते हैं कि अर्जुनने जिस अनिष्टके भयसे यह आपत्ति की थी, वास्तवमें कुरुक्षेत्रके युद्धके कारण ठीक वही अनिष्ट हुआ था। भ्रातृवध, कुलनाश, जातिनाशतक कुरुक्षेत्रके युद्धका परिणाम हुआ था। कुरुक्षेत्रके युद्धके कारण ही कलिका आरंभ हुआ था। इस युद्धमें भीषण भ्रातृवध हुआ था यह ठीक है। तब प्रश्न यह है कि अन्य किस उपायसे श्रीकृष्णका महान् उद्देश्य सिद्ध होता? इसीलिये श्रीकृष्णने यह जानते हुए भी कि संधिकी चर्चा विफल होगी, संधि करनेके लिये काफी प्रयास किया था। यहांतक कि पांच गांव भी मिल जानेपर युधिष्ठिर युद्ध न करते, पैर रखनेके लिये उतनासा ही स्थान पा जानेपर श्रीकृष्ण धर्मराज्यकी स्थापना करते। किंतु दुर्योधनने यह दृढ़ निश्चय किया था कि बिना युद्ध वह सूच्यग्र-

मात्र भूमि भी नहीं देंगे। जब समस्त देशका भविष्य युद्धके फलके ऊपर निर्भर करता है तब उस युद्धसे भ्रातृवध होनेके कारण महत्कर्मसे अलग होनेसे अधर्म होता है। परिवारके हितको जातिके हितमें, जगत्‌के हितमें डुबा देना होता है; भ्रातृस्नेहसे, पारिवारिक प्रेमके मोहसे कोटि-कोटि लोगोंका सर्वनाश नहीं किया जा सकता, कोटि-कोटि मनुष्योंके भावी सुख या दुःखमोचनको विनष्ट नहीं किया जा सकता, अन्यथा उससे भी व्यक्ति और कुलको नरककी प्राप्ति होती है।

कुरुक्षेत्रके युद्धसे कुलनाश हुआ था––यह बात भी सत्य है। इस युद्धके फलस्वरूप महाप्रतापशाली कुरुवंश एक तरहसे लुप्त हो गया। किंतु कुरुजातिका लोप होनेसे यदि समस्त भारतकी रक्षा हुई हो तो फिर यही कहना होगा कि उससे कुरुवंशकी हानिकी अपेक्षा लाभ ही हुआ है। जैसे पारिवारिक प्रेमकी माया होती है वैसे ही कुलकी भी माया होती है। देशभाईको हम कुछ नहीं कहेंगे, देशवासीका विरोध नहीं करेंगे, अनिष्ट करनेपर भी, आततायी होनेपर भी, देशका सर्वनाश करनेपर भी वह हमारा भाई है, स्नेहका पात्र है, उसे चुपचाप सहन करेंगे इत्यादि––इस प्रकारका भाव हमारे अंदर उत्पन्न कर वैष्णवी-मायाप्रसूत जो अधर्म धर्मका जामा पहनकर बहुतसे लोगोंकी बुद्धिको भ्रष्ट करता है वह इस कुलके माया-मोहसे ही उत्पन्न होता है। बिना कारण या स्वार्थके लिये, नितांत प्रयोजन या आवश्यकताके अभावमें देशभाई-

का विरोध और उससे कलह करना अधर्म है। किंतु जो देशभाई सबकी मांको जानसे मार डालनेके लिये या उसका अनिष्ट करनेके लिये तैयार है, उसका अत्याचार चुपचाप सहन कर उस मातृ-हत्या या अनिष्टाचरणको प्रश्रय देना और भी घोर पातक है। शिवाजी जब मुसलमानोंके पृष्ठपोषक देशभाइयोंका संहार करने गये तब यदि उनसे कोई कहता कि अहा! क्या करते हो, ये देशभाई हैं, चुपचाप सहन करो, मुगल महाराष्ट्रदेशको अधिकृत करते हैं तो करें, मराठे-मराठेके बीच प्रेम बना रहना ही पर्याप्त है, तो क्या यह बात एकदम हास्यजनक न प्रतीत होती? अमेरिकनोंने जब दासप्रथाको उठानेके लिये देशमें विरोध और गृह-युद्धकी सृष्टि कर हजारों देशभाइयोंका प्राणसंहार किया था तब क्या उन्होंने कोई कुकर्म किया था? बहुत बार देशभाइयोंका विरोध करना, देशभाइयोंका युद्धमें वध करना जातिके हित और जगत्के हितका एकमात्र उपाय होता है। इससे यदि कुलनाशकी आशंका हो तो भी जातिके हित और जगत्के हितका साधन करनेसे मुंह नहीं मोड़ना चाहिये। अवश्य ही यदि उस कुलकी रक्षा करना जातिके हितके लिये आवश्यक हो तो फिर समस्या जरा जटिल हो जाती है। महाभारतके युगमें भारतमें जातिकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, सब लोग कुलको ही मनुष्यजातिका केंद्र मानते थे। इसीलिये भीष्म, द्रोण आदि जो लोग पुरातन विद्याके आकर थे, उन्होंने पांडवोंके विरुद्ध युद्ध किया था। वे लोग जानते थे कि

धर्म पांडवोंके पक्षमें है, जानते थे कि एक महत् साम्राज्यकी स्थापना कर समस्त भारतको एक केंद्रमें आबद्ध करनेकी आवश्यकता है। परंतु वे लोग यह भी समझते थे कि कुल ही धर्मका आधार और जातिका केंद्र है, कुलका नाश होनेपर धर्मरक्षा और जातिसंस्थापन करना असंभव होगा। अर्जुन भी उसी भ्रममें पड़ गये। इस युगमें जाति ही धर्मका आधार है, मानवसमाजका केंद्र है। जातिकी रक्षा करना इस युगका प्रधान धर्म है, जातिका नाश करना इस युगका अमार्जनीय महापातक है। परंतु ऐसा भी युग आ सकता है जब एक बृहत् मानवसमाज प्रतिष्ठित हो सकता है, हो सकता है कि उस समय जगत्के बड़े-बड़े ज्ञानी और कर्मी जातिकी रक्षाके लिये युद्ध करेंगे और दूसरे पक्षमें श्रीकृष्ण विप्लवी बनकर, नये कुरुक्षेत्रका युद्ध संघटित कर जगत्का हितसाधन करेंगे।

श्रीकृष्णकी राजनीतिका फल

सबसे पहले कृपाके आवेशमें आकर अर्जुनने कुलनाशकी बातके ऊपर अधिक जोर दिया था, क्योंकि वैसे बृहत् सैन्यसमावेशको देखकर कुलकी चिंता, जातिकी चिंता अपने-आप ही मनमें उठती है। पहले हम कह चुके हैं कि कुलके हितका चिंतन करना उस समयके भारतवासियोंके लिये स्वाभाविक था, जैसे कि जातिके हित-का चिंतन करना आधुनिक मनुष्यजातिके लिये स्वाभाविक है।

किंतु क्या यह आशंका निर्मूल थी कि कुलका नाश होनेसे जाति-का आधार ही नष्ट हो जायगा? बहुतसे लोग कहते हैं कि अर्जुन-को जिस बातका भय हुआ था वास्तवमें वही पीछे हुआ, कुरुक्षेत्र-का युद्ध ही भारतकी अवनति और दीर्घकालव्यापी पराधीनताका मूल कारण है। तेजस्वी क्षत्रियवंशका लोप हो जानेसे, क्षात्र तेज-का ह्रास हो जानेसे भारतका बहुत बड़ा अमंगल हुआ है। एक विख्यात विदेशी महिला, जिनके श्रीचरणोंमें बहुतसे हिन्दू आजकल शिष्यरूपसे मस्तक रखते हैं, यह कहनेमें भी कुण्ठित नहीं होतीं कि क्षत्रियोंका नाश करके ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करनेका पथ सुगम करना ही भगवान्‌के अवतीर्ण होनेका वास्तविक उद्देश्य था। हमारा ऐसा ख्याल है कि जो लोग ऐसी असंबद्ध बातें कहते हैं वे इस विषयकी गहराईमें न जाकर अत्यंत नगण्य राजनीतिक तत्त्वके वश-में होकर श्रीकृष्णकी राजनीतिका दोष दिखाते हैं। यह राजनीतिक तत्त्व म्लेच्छ-विद्या, अनार्यचिंतन-प्रणालीसे उत्पन्न हुआ है। अनार्य-गण आसुरिक बलसे बलीयान् होते हैं, उसीको स्वाधीनता और जातीय महत्त्वका एकमात्र आधार मानते हैं।

जातीय महत्त्व केवल क्षात्र तेज के ऊपर ही नहीं प्रतिष्ठित हो सकता, चतुर्वर्णका चतुर्विध तेज ही उस महत्त्वका आधार है। सात्त्विक ब्रह्मतेज राजसिक क्षात्र तेजको ज्ञान, विनय तथा परहित-चिंतन-रूपी मधुर संजीवनी सुधासे जीवित बनाये रखता है, क्षात्र तेज शांत ब्रह्मतेजकी रक्षा करता है। क्षत्रतेजरहित ब्रह्मतेज तमो-

भावद्वारा आक्रांत होकर शूद्रत्वके निकृष्ट गुणोंको प्रश्रय देता है, इसीलिये जिस देशमें क्षत्रिय नहीं होते उस देशमें ब्राह्मणका रहना निषिद्ध है। यदि क्षत्रियवंशका लोप हो जाय तो नये क्षत्रियोंकी सृष्टि करना ब्राह्मणका प्रथम कर्तव्य है। ब्रह्मतेजपरित्यक्त क्षत्रतेज दुर्दांत, उद्दाम आसुरिक बलमें परिणत होकर पहले परहितका विनाश करनेमें प्रवृत्त होता है, फिर अंतमें स्वयं विनष्ट हो जाता है। रोमन कविने ठीक ही कहा है कि असुर अपने ही बलातिरेकसे पतित होकर समूल नष्ट हो जाते हैं। सत्त्वको रजस्की सृष्टि करनी चाहिये, रजःको सत्त्वकी रक्षा करनी चाहिये, सात्त्विक कार्यमें नियुक्त होना चाहिये, तभी व्यक्तिकी और जातिकी रक्षा संभव है। सत्त्व यदि रजस्को ग्रसित कर ले, रजस् यदि सत्त्वको ग्रसित कर ले तो तमोगुणका प्रादुर्भाव होनेसे विजयी गुण स्वयं पराजित होते हैं, तमोगुणका राज्य फैल जाता है। ब्राह्मण कभी राजा नहीं हो सकता, क्षत्रियका नाश होनेपर शूद्र राजा होगा, ब्राह्मण तामसिक होकर अर्थके लोभमें ज्ञानको विकृत करेगा और शूद्रका दास बन जायगा, आध्यात्मिक भाव निश्चेष्टताका पोषण करेगा, स्वयं म्लान होकर धर्मकी अवनतिका कारण बनेगा। निःक्षत्रिय शूद्रचालित जातिका दासताके कवलमें जा पड़ना अवश्यंभावी है। भारतकी यही अवस्था हुई है। दूसरी ओर आसुरिक बलके प्रभावसे क्षणिक उत्तेजना और उससे शक्तिका संचार तथा महत्त्वकी प्राप्ति तो हो सकती है पर शीघ्र ही दुर्बलता और

ग्लानि आ जाती है, शक्तिका ह्रास हो जाता और देश अवसन्न हो जाता है, अथवा राजसिक विलास, दंभ और स्वार्थकी वृद्धिके कारण जाति अनुपयुक्त होकर अपनी महत्ताकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाती है, अथवा अंतर्विरोध, दुर्नीति, अत्याचारसे देश तहस-नहस होकर शत्रुके लिये सहजलभ्य शिकार बन जाता है। भारत और यूरोपके इतिहासमें इन सब परिणामोंके बहुतसे दृष्टांत मिलते हैं।

महाभारतके युगमें आसुरिक बलके भारसे पृथिवी व्याकुल हो गयी थी। भारतमें उतने तेजस्वी, पराक्रमशाली, प्रचंड क्षत्रिय-तेजका विकास न तो उससे पहले ही कभी हुआ था, न उसके बाद ही कभी हुआ, पर उस भीषण बलका सदुपयोग होनेकी संभावना बहुत ही कम थी। जो लोग उस बलके धारणकर्त्ता थे, वे सभी आसुरिक प्रकृतिवाले थे—अहंकार, दर्प, स्वार्थ, स्वेच्छाचार उनकी रग-रगमें भरा था। यदि श्रीकृष्ण इस बलका नाश कर धर्मराज्य स्थापित न करते तो जिन तीन परिणामोंका वर्णन ऊपर किया गया है, उनमेंसे एक-न-एक जरूर घटित होता। भारत असमयमें ही म्लेच्छोंके हाथमें पड़ जाता। यहां स्मरण रखना चाहिये कि पांच हजार वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्रका युद्ध हुआ था, ढाई हजार वर्ष बीतनेके बाद म्लेच्छोंका पहला सफल आक्रमण सिंध नदीके दूसरे पारतक पहुंच पाया था। अतएव अर्जुनद्वारा प्रतिष्ठित धर्मराज्यने इतने दिनोंतक ब्रह्मतेज-अनुप्राणित क्षत्रतेजके

प्रभावसे देशकी रक्षा की थी। उस समय भी देशमें क्षात्र तेज इतना अधिक संचित था कि उसके भग्नांशने ही और भी दो हजार वर्षोंतक देशको बचाये रखा, चन्द्रगुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रम, संग्राम सिंह, प्रताप, राजसिंह, प्रतापादित्य, शिवाजी इत्यादि महा-पुरुषोंने उसी क्षात्र तेजके बलसे देशके दुर्भाग्यके साथ संग्राम किया था। अभी उस दिन गुजरातके युद्धमें और लक्ष्मीबाईकी चितामें उसका अंतिम स्फुलिंग निर्वापित हुआ था। उस दिन श्रीकृष्णके राजनीतिक कार्यका सुफल और पुण्य क्षीण हो गया, भारतकी, जगत्की रक्षाके लिये फिरसे पूर्णावतारकी आवश्यकता हुई। वह अवतार फिरसे लुप्त ब्रह्मतेजको जगा गये, वही ब्रह्मतेज अब क्षात्र तेजकी सृष्टि करेगा। श्रीकृष्णने भारतके क्षत्रतेजको कुरुक्षेत्रके रक्तसमुद्रके द्वारा बुझा नहीं दिया था, वरन् आसुरिक बलका विनाश कर ब्रह्मतेज और क्षत्रतेज दोनोंकी ही रक्षा की थी। उन्होंने आसुरिक बलदृप्त क्षत्रियवंशका संहार कर उद्दाम रजः-शक्तिको छिन्न-भिन्न कर दिया था——यह बात सत्य है। इस प्रकार महाविप्लव, अंतर्विरोधको उत्कट भोगके द्वारा क्षीण करके निगृ-हीत करना, उद्दाम क्षत्रियकुलका संहार करना सर्वदा अनिष्टकर नहीं होता। अंतर्विरोधसे रोमन क्षत्रियकुलका नाश होनेसे और राजतंत्रकी स्थापना होनेसे रोमका विराट् साम्राज्य अकाल ही काल-के गालमें जानेसे बच गया था। इंगलैंडमें श्वेत और रक्त गुलाब-दलके अंतर्विरोधके द्वारा क्षत्रिय कुलका नाश होनेके कारण चौथे एड-

वर्ड, आठवें हेनरी और रानी एलिजावेथ सुरक्षित, पराक्रमशाली, विश्वविजयी आधुनिक इंगलैंडकी नींव स्थापित करनेमें समर्थ हुए थे। कुरुक्षेत्रके युद्धसे भारतकी भी उसी तरह रक्षा हुई थी।

कलियुगमें भारतकी अवनति हुई है—इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। किंतु अवनति ले आनेके लिये भगवान् कभी अवतीर्ण नहीं होते। धर्मरक्षा, विश्वरक्षा, लोकरक्षाके लिये ही अवतार होता है। विशेषतः कलियुगमें ही भगवान् पूर्ण रूपमें अवतीर्ण होते हैं, उसका कारण यह है कि कलिमें मनुष्यकी अवनतिका अधिक भय रहता है, अधर्मकी वृद्धि स्वाभाविक होती है, अतएव मानवजातिकी रक्षाके लिये, अधर्मका नाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये, कलिकी गतिको रोकनेके लिये इस युगमें बार-बार अवतार होता है। श्रीकृष्ण जब अवतीर्ण हुए थे तब कलिका राज्य आरंभ होनेका समय हो गया था, उनके आविर्भावसे भयभीत होकर कलि अपने राज्यमें पदार्पण नहीं कर सका था, उन्हींके प्रसादसे परीक्षितने कलिको पांच गांव देकर उसीके युगमें उसके एकाधिपत्यको रोक रखा था। जिस कलियुगके आदिसे अंततक कलिके साथ मनुष्यका घोर संग्राम चल रहा है और चलता रहेगा, जिस कलियुगके संग्रामके सहायक और नायकके रूपमें भगवान्के अवतार और विभूति कलिमें बार-बार आते हैं, उसी कलियुगके आरंभ-कालमें उस संग्रामके लिये उपयोगी ब्रह्मतेज, ज्ञान, भक्ति, निष्काम-कर्मकी शिक्षा देने तथा उनकी रक्षा करनेके लिये भग-

वान्‌ने मानव-शरीर धारण किया था। भारतकी रक्षा मानव-कल्याणका आधार और आशास्थल है। भगवान्‌ने कुरुक्षेत्रमें मनुष्य-जातिकी रक्षा की थी। उसी रक्तसमुद्रमें नवीन जगत्‌के लीलापद्मपर कालरूपी विराट् पुरुषने विहार करना आरंभ किया था।

द्वितीय अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजयने कहा—

मधुसूदनने अर्जुनकी कृपाके आवेशको, उसकी अश्रुपूर्ण दोनों आंखोंको और उसके विषण्ण भावको देखकर उसे यह उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥२॥

भगवान्ने कहा—

हे अर्जुन ! इस संकटके समयमें यह अनार्योंद्वारा आदृत, स्वर्ग-पथरोधक और अकीर्त्तिकर मनकी मलिनता कहांसे आ गयी ?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

हे पार्थ ! हे शत्रुदमनमें समर्थ ! नपुंसकताका आश्रय मत लो, यह तुम्हारे लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। मनकी इस क्षुद्र दुर्बलताका त्याग करो, उठो।

श्रीकृष्णका उत्तर

श्रीकृष्णने देखा कि अर्जुनको कृपाने अभिभूत कर लिया है, विषादने उन्हें ग्रस लिया है। इस तामसिक भावको दूर करनेके लिये अंतर्यामी भगवान्‌ने अपने प्रिय सखाका क्षत्रियोचित तिरस्कार किया, उन्होंने सोचा, शायद कहीं इससे उनमें राजसिक भाव जागृत होकर उनके तामसिक भावको दूर कर दे। उन्होंने कहा, देखो, यह तुम्हारे पक्षवालोंके लिये संकटका काल है, इस समय यदि तुम हथियार रख दोगे तो इससे उनके एकदम विपत्तिमें पड़ जाने और नष्ट हो जानेकी संभावना है। रणक्षेत्रमें अपने पक्षका त्याग करनेकी बात तुम्हारे-जैसे श्रेष्ठ क्षत्रियके मनमें नहीं उठनी चाहिये, भला हठात् यह दुर्मति तुम्हारे अंदर कहांसे आ गयी? तुम्हारा यह भाव दुर्बलतापूर्ण है और पापपूर्ण है। इस तरहके भावकी तो अनार्य लोग प्रशंसा करते हैं, इसके वशमें होते हैं, किंतु यह तो आर्यके लिये अनुचित है, इससे परलोकमें तो स्वर्गप्राप्तिके मार्गमें बाधा पहुंचती है और इस लोकमें यश और कीर्तिकी हानि होती है। इसके बाद उन्होंने अर्जुनका और भी मर्मभेदी शब्दोंमें तिरस्कार किया। उन्होंने कहा कि यह भाव तो क्लीबोचित है, तुम तो वीरश्रेष्ठ हो, विजयी हो, कुंतीके पुत्र हो, तुम भी ऐसी बात कहते हो? प्राणकी इस दुर्बलताको छोड़ो, उठो, अपना कर्तव्य कर्म करनेका प्रयास करो।

कृपा और दया

कृपा और दया दो सर्वथा स्वतंत्र भाव हैं, यहांतक कि कृपा दयाका विरोधी भाव भी हो सकती है। दयासे वशीभूत होकर हम जगत्का कल्याण करते हैं, मनुष्यके दुःखको, जातिके दुःखको, दूसरोंके दुःखको दूर करते हैं। अगर हम अपने दुःखको या किसी व्यक्ति-विशेषके दुःखको सहन न कर सकनेके कारण उस कल्याण-कार्यसे अलग हो जायं तो वह दया नहीं है, बल्कि उससे यह समझना चाहिये कि हम कृपाके द्वारा अभिभूत हो गये हैं। समस्त मानव-जाति अथवा देशका दुःख दूर करनेके लिये जब हम खड़े होते हैं तब उस भावको दयाका भाव कहना चाहिये। रक्तपात-के भयसे, प्राणिहिंसाके भयसे जब हम पुण्य-कार्यसे विमुख होते हैं और इस प्रकार जगत्के, जातिके दुःखके चिरस्थायी होनेमें सहायक होते हैं, तब उसको कृपाका भाव कहना चाहिये। दूसरोंके दुःखसे दुःखी होकर उस दुःखको दूर करनेकी जो प्रबल प्रवृत्ति है उसे दया कहते हैं और दूसरोंके दुःखकी चिंतासे अथवा दूसरोंके दुःख-को देखकर कातर होना कृपा कहलाता है। कातरता दया नहीं, बल्कि कृपा है। दया बलवान्का धर्म है और कृपा दुर्बलका धर्म है। दयाके आवेशमें आकर बुद्धदेव स्त्री-पुत्र, पिता-माता और बन्धु-बांधवोंको दुःखी और निराधार बनाकर जगत्का दुःख दूर करनेके लिये घरसे निकल गये थे। तीव्र दयाके आवेशसे उन्मत्त

होकर महाकालीने संसारभरके असुरोंका संहार कर, पृथ्वीमें रक्तकी नदी बहाकर सब लोगोंका दुःख दूर किया था। परंतु अर्जुनने कृपाके आवेशमें आकर शस्त्रका परित्याग किया था।

इस भावकी अनार्य लोग ही प्रशंसा करते हैं और अनार्य ही इस भावके अनुसार आचरण करते हैं। आर्यशिक्षा इससे कहीं उदार है, वह वीरोंके योग्य है, वह देवताओंकी शिक्षा है। अनार्य ही मोहमें पड़कर अनुदार भावको धर्म मान लेते और उदार धर्मका परित्याग करते हैं। अनार्य राजसिक भावसे अनुप्राणित होकर अपना, अपने प्रियजनोंका, अपने परिवार या कुलका हित देखते हैं, विराट् कल्याणको नहीं देखते, वे कृपाके वश होकर धर्मसे मुंह फेर लेते हैं और अपनेको पुण्यवान् मानकर गर्व करते हैं तथा कठोरव्रती आर्योंको निष्ठुर और अधर्मी कहते हैं। ये लोग तामसिक मोहसे मुग्ध होकर अप्रवृत्तिको ही निवृत्ति कहते हैं, सकाम पुण्यप्रियताको ही धर्मनीतिका उच्चतम आसन प्रदान करते हैं। दया आर्योंका भाव है और कृपा अनार्योंका भाव है।

पुरुष दयासे वशीभूत होकर वीरकी तरह दूसरोंके अमंगल और दुःखका नाश करनेके लिये अमंगलके साथ युद्ध करनेमें प्रवृत्त होता है। स्त्री दयासे वशीभूत होकर दूसरेके दुःखको हलका करनेके लिये उस व्यक्तिकी सेवा-शुश्रूषा और देख-भाल करनेमें तथा दूसरेका हित करनेकी चेष्टामें अपना सारा प्राण और शक्ति ढाल देती है। जो कृपाके वशमें होकर अस्त्रका त्याग करता है, धर्म-

से विमुख होता है, रोने बठ जाता है और यह सोचता है कि मैं अपना कर्तव्य कर रहा हूं, मैं पुण्यवान् हूं, वह नपुंसक है। यह क्षुद्र भाव है, दुर्बलताका भाव है। विषाद कभी धर्म नहीं हो सकता। जो विषादको आश्रय देता है वह पापको आश्रय देता है। इस प्रकारकी चित्तकी मलिनताको, इस तरहके अशुद्ध और दुर्बल भावको त्यागकर युद्धकी चेष्टा करना और इस तरह अपने कर्तव्यका पालन कर जगत्‌की, धर्मकी रक्षा करना, पृथ्वीके भारको हलका करना ही श्रेयस्कर है। यही श्रीकृष्णकी इस उक्तिका मर्म है।

***

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

अर्जुनने कहा—

हे मधुसूदन! हे शत्रुनाशक! मैं किस प्रकार युद्धमें भीष्म और द्रोणका प्रतिरोध कर उन पूजनीय गुरुजनोंके विरुद्ध अस्त्र चलाऊंगा?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

इन उदारचेता गुरुजनोंका वध न कर इस जगत्में भिखारी बनकर रहना ही श्रेयस्कर है। यदि मैं गुरुजनोंका वध करूं तो धर्म और मोक्षको खोकर केवल अर्थ और कामका भोग करूंगा, वह भी रुधिरसे सना हुआ विषय-भोग होगा और पृथ्वीपर ही भोगने योग्य होगा, वह मरनेतक ही रहेगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥६॥

इस कारण हमारी जय या पराजय कौनसी अधिक प्रार्थनीय है, यह भी हमारी समझमें नहीं आ रहा है। जिनका वध कर देनेपर हम लोगोंको जीवित रहनेकी कोई इच्छा नहीं रहेगी, वे ही विपक्षी सेनाके अग्रभागमें उपस्थित हैं, वे लोग धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी सेनाके नायक हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

मेरा क्षत्रिय-स्वभाव हीनतारूपी दोषसे अभिभूत हो गया है, धर्माधर्मके विषयमें मेरी वुद्धि विमूढ़ हो गयी है, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूं कि तुम मुझसे निश्चित रूपसे यह कहो कि क्या करनेसे

श्रेय होगा, मैं तुम्हारा शिष्य हूं, तुम्हारी शरण आया हूं, मुझे शिक्षा दो।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

क्योंकि, पृथ्वीपर निष्कंटक राज्य और देवताओंके ऊपर आधिपत्य प्राप्त हो जानेपर भी यह शोक मेरी इंद्रियोंका तेज सोख लेगा, इस शोकको दूर करनेका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता।

अर्जुनकी शिक्षा-प्रार्थना

श्रीकृष्णकी उक्तिका उद्देश्य अर्जुनने समझ लिया और उन्होंने राजनीतिक आपत्ति उठाना बंद कर दिया; परंतु दूसरी जो-जो आपत्तियां थीं, उनका कोई उत्तर न मिलनेके कारण वे शिक्षा प्राप्त करनेके लिये श्रीकृष्णके शरणापन्न हुए। उन्होंने कहा, "मैं स्वीकार करता हूं कि मैं क्षत्रिय हूं, कृपासे वशीभूत होकर महान् कार्यसे विमुख होना मेरी नपुंसकताका ही सूचक है, मेरे लिये अपकीर्तिजनक और धर्मविरुद्ध है। परंतु क्या करूं? मन भी नहीं मानता, प्राण भी नहीं मानता। मन कहता है कि गुरुजनोंकी हत्या करना महापाप है, अपने सुखके लिये गुरुजनोंको मारनेसे अधर्म होगा और इस कारण मेरा धर्म, मोक्ष, परलोक,

जो कुछ भी वांछनीय है वह सब कुछ जाता रहेगा। अवश्य ही इससे कामनाएं तृप्त होंगी, अर्थकी लालसा भी तृप्त होगी, पर यह सब आखिर कितने दिनके लिये? अधर्मके द्वारा जो भोग प्राप्त होता है वह मृत्यु होनेतक ही टिकता है, उसके बाद अकथनीय दुर्गति ही होती है। और जब भोग करूंगा तब भी तो उस भोग-के अंदर गुरुजनोंके रक्तका स्वाद मिलेगा और फिर भला उससे क्या सुख या शांति मिलेगी? प्राण कहता है कि ये मेरे प्रिय-जन हैं, इनकी हत्या करनेसे इस जन्ममें फिर मुझे कोई सुख नहीं मिल सकेगा, सुख भोगना तो दूर, मैं जीवित रहना भी नहीं पसंद करूंगा। तुम यदि मुझे समस्त पृथ्वीके साम्राज्यका भोग करने दो अथवा स्वर्गको जीतकर इंद्रके ऐश्वर्यका भी भोग करने दो तो भी मैं संतुष्ट नहीं होऊंगा। जो शोक मुझे अभिभूत करेगा उसके द्वारा सभी कर्मेंद्रियां और ज्ञानेंद्रियां अभिभूत और अवसन्न होकर अपना-अपना कार्य करनेमें शिथिल और असमर्थ हो जायंगी, उस समय भला तुम क्या भोग कर सकोगे? मेरे चंचल चित्तमें हीनता आ गयी है, महान् क्षत्रिय-स्वभाव उस दीनतामें डूब गया है। मैं तुम्हारी शरणमें आया हूं। मुझे ज्ञान दो, शक्ति दो, श्रद्धा दो और जो मार्ग मेरे लिये श्रेयस्कर हो उसे दिखाकर मेरी रक्षा करो।"

संपूर्ण रूपसे भगवान्‌के शरणागत होना गीतोक्त योगमार्गकी शिक्षा है। इसीको आत्मसमर्पण या आत्म-निवेदन कहते हैं। जो

कोई भगवान्को गुरु, प्रभु, सखा, पथप्रदर्शक मानकर अन्य सब धर्मोंको तिलांजलि देनेके लिये तैयार होता है, पाप-पुण्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, मंगल-अमंगलका विचार न कर अपने ज्ञान, कर्म और साधनाका समस्त भार श्रीकृष्णके हाथोंमें सौंप देता है, वही गीतोक्त योगका अधिकारी है। अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा, "यदि तुम गुरुहत्या करनेके लिये भी कहो, यदि मुझे समझा दो कि वह मेरा धर्म और कर्तव्य कर्म है तो उसे ही मैं करूंगा।" इसी गभीर श्रद्धाके बलसे अर्जुन तत्कालीन समस्त महापुरुषोंको अतिक्रम कर गीताकी शिक्षाके श्रेष्ठ पात्रके रूपमें गृहीत हुए थे।

अर्जुनको उत्तर देते हुए सबसे पहले श्रीकृष्णने उनकी दो आपत्तियोंका खंडन किया और उसके बाद गुरुका भार ग्रहण कर उन्हें असली ज्ञान देना आरंभ किया। द्वितीय अध्यायके ३८वें श्लोकतक अर्जुनकी आपत्तियोंका खंडन किया गया है, उसके बाद गीताकी शिक्षा आरंभ हुई है। किंतु इन आपत्तियोंके खंडनके भीतर कई अमूल्य शिक्षाएं पायी जाती हैं, जिन्हें समझे बिना गीताकी शिक्षाको हृदयंगम नहीं किया जा सकता। अतएव इन कतिपय बातोंकी विस्तारसहित आलोचना करनेकी आवश्यकता है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजयने कहा—

परंतप गुडाकेश (अर्जुन) हृषीकेशको इस प्रकार कहकर फिर उन गोविंदसे बोले, "मैं युद्ध नहीं करूंगा" और चुप हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीकृष्णने कुछ हंसकर दोनों सेनाओंके बीच अवस्थित विषण्ण अर्जुनको यह उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान्ने कहा—

जिनके लिये शोक करनेका कोई भी कारण नहीं उनके लिये तू शोक करता है, फिर भी ज्ञानीकी तरह तात्त्विक विषयोंपर वादविवाद करनेकी चेष्टा करता है, किंतु जो तत्त्वज्ञानी हैं वे मृत या जीवित किसीके लिये भी शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

ऐसा भी नहीं है कि मैं पहले नहीं था या तू नहीं था या ये राजा लोग नहीं थे, यह भी नहीं है कि हम सब देहत्याग करनेके बाद फिर नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जिस प्रकार इस जीव-अधिष्ठित शरीरमें कुमारावस्था, युवा-वस्था और वृद्धावस्था कालकी गतिसे होती है, उसी प्रकार दूसरी देहकी प्राप्ति भी कालकी गतिसे होती है, इससे स्थिरबुद्धि ज्ञानी पुरुष मोहको प्राप्त नहीं होते।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मरण कुछ भी नहीं है, विषयके स्पर्शसे जो शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे सभी स्पर्श अनित्य हैं, आते हैं और जाते हैं, उन सबको अविचलित रहकर ग्रहण करनेका अभ्यास कर।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

जो स्थिरबुद्धि पुरुष इन स्पर्शोंको भोगकर भी व्यथित नहीं होता, इन स्पर्शोंद्वारा सृष्ट सुख-दुःखको समभावसे ग्रहण करता है, वही मृत्युको जीतनेमें समर्थ होता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो असत् है उसका अस्तित्व नहीं होता, जो सत् है उसका

विनाश नहीं होता, फिर भी सत् और असत् दोनोंका अंत होता है, इसका तत्त्वदर्शियोंने दर्शन किया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

परंतु जिसने इस समस्त दृश्य जगत्का अपने अंदर विस्तार किया है उस आत्माका क्षय नहीं होता, कोई उसका ध्वंस नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नित्य देहाश्रित आत्माके इन समस्त शरीरोंका अंत है, आत्मा असीम और अनश्वर है,; इसलिये, हे भारत, युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो आत्माको हंता कहता है और जो देहके नाशपर आत्माको निहत हुआ समझता है, वे दोनों ही भ्रांत, अज्ञ हैं, यह आत्मा हत्या भी नहीं करता और हत भी नहीं होता।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

इस आत्माका जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, इसका कभी भी उद्भव नहीं हुआ और कभी भी लोप नहीं होगा। यह जन्मरहित है, नित्य है, सनातन है, पुरातन है, देहनाश होनेपर यह हत नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

जो इसको नित्य, अनश्वर और अक्षय जानता है, वह पुरुष किस प्रकार किसीकी हत्या करता या कराता है?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्र उतारकर नया वस्त्र पहनता है, वैसे ही जीव जीर्ण देह छोड़कर नयी देहका आश्रय लेता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

शस्त्र इसका छेदन नहीं कर सकते, आग इसे जला नहीं सकती, जल भिगा नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है, नित्य है, सर्वव्यापी है, स्थिर है, अचल है, सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

आत्मा अव्यक्त है, अचिंत्य है, विकाररहित है, तू आत्माको ऐसा जानकर शोक करना छोड़ दे।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तू यह मानता हो कि जीव बार-बार जनमता और मरता है, तब भी उसके लिये शोक करना उचित नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जिसका जन्म होता है, उसकी निश्चय ही मृत्यु होती है, जिसकी मृत्यु होती है, उसका निश्चय ही जन्म होता है, अतएव जब मृत्यु अपरिहार्य परिणाम है, तो उसके लिये शोक करना अनुचित है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

सभी प्राणी प्रारंभमें अव्यक्त होते हैं, मध्यमें व्यक्त होते हैं, और फिर अंतमें अव्यक्त होते हैं, इस स्वाभाविक क्रममें शोक करनेका कोई भी कारण नहीं।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आत्माको कोई एक आश्चर्यके रूपमें देखता है, कोई एक आश्चर्य कहकर इसके विषयमें बोलता है, कोई एक आश्चर्य कहकर इसके बारेमें सुनता है, किंतु सुनकर भी कोई आत्माको नहीं जान पाता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

आत्मा सदा सब देहके अंदर अवध्य होकर रहता है, अतएव इन प्राणियोंके विषयमें कभी शोक करना उचित नहीं है।

मृत्युकी असत्यता

अर्जुनकी बात सुनकर श्रीकृष्णके मुंहपर हंसीका-सा भाव दिखायी दिया, वह हंसी परिहासमय होते हुए भी प्रसन्नतापूर्ण थी—अर्जुनके भ्रमके अंदर मानव-जातिके प्राचीन भ्रमको पहचानकर अंतर्यामी हंसे। वह भ्रम श्रीकृष्णकी मायासे ही उत्पन्न हुआ है, जगत्‌में जो कुछ अशुभ, दुःख या दुर्बलता है, उसका भोग और संयमके द्वारा, क्षय करनेके लिये ही उन्होंने मनुष्यको इस माया-द्वारा अभिभूत किया है। प्राणकी ममता, मरनेका भय, सुख-दुःखकी अधीनता और प्रिय-अप्रियका बोध आदि अज्ञान अर्जुनकी

बातोंमें स्पष्ट रूपसे झलकता था, इसी अज्ञानको मनुष्यकी बुद्धिसे दूर कर जगत्को अशुभसे मुक्त करना आवश्यक था, इसी शुभ कार्यके अनुकूल अवस्था प्रस्तुत करनेके लिये श्रीकृष्ण आये थे, गीताको प्रकट करने जा रहे थे। परंतु पहले, अर्जुनके मनमें जो भ्रम उत्पन्न हुआ था, उसका भोगके द्वारा क्षय करना आवश्यक था। अर्जुन श्रीकृष्णके सखा थे, मानव-जातिके प्रतिनिधि थे, उन्हींको गीता सुनानी थी, वही श्रेष्ठ पात्र थे। किंतु मानव-जाति अभीतक गीताका अर्थ ग्रहण करनेके योग्य नहीं हुई है, अर्जुन भी गीताका संपूर्ण अर्थ ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हुए थे। जो शोक, दुःख और कातरता उनके मनमें उठी थी उसे पूर्ण मात्रा-में कलियुगके आरंभसे ही मानवजाति भोगती आ रही है। ईसाई-धर्म पृथ्वीपर प्रेमको उतारकर, बौद्ध-धर्म दयाको उतारकर, इस्लाम-धर्म शक्तिको उतारकर इस दुःखको हलका करनेके लिये आया है। आज कलियुगांतर्गत सत्ययुगका प्रथम खंड आरंभ होगा, भग-वान् फिरसे भारतको, कुरुजातिके वंशधरोंको गीता प्रदान कर रहे हैं, यदि हम इसे धारण करनेमें समर्थ हों तो इससे भारतका, जगत्का मंगल होना सुनिश्चित है।

श्रीकृष्णने कहा, अर्जुन! तुम पंडितोंकी तरह पाप-पुण्यका विचार कर रहे हो, जीवन और मरणके तत्त्वकी चर्चा कर रहे हो, किस बातसे जातिका कल्याण या अकल्याण होता है इसको प्रति-पादित करनेकी चेष्टा कर रहे हो, किंतु तुम्हारी बातोंमें वास्तविक

ज्ञानका परिचय नहीं मिलता, बल्कि तुम्हारी प्रत्येक बात घोर अज्ञानसे भरी हुई है। साफ-साफ कहो कि मेरा हृदय दुर्बल है, शोकसे कातर है, मेरी बुद्धि कर्त्तव्यसे विमुख हो गयी है। ज्ञानी-की भाषामें अज्ञानीकी तरह तर्क करके अपनी दुर्बलताका समर्थन करनेका कोई भी प्रयोजन नहीं है। शोक मनुष्यमात्रके हृदयमें उत्पन्न होता है, मनुष्यमात्रके लिये ही मरण और विच्छेद अत्यंत भयंकर होता है, जीवन अत्यंत मूल्यवान् होता है, शोक असह्य होता है और कर्तव्य एक कठोर वस्तु होता है; मनुष्यमात्र ही स्वार्थसिद्धिको मधुर जानकर हर्षित होता है, दुःखित होता है, हंसता है, रोता है, किंतु इन सब वृत्तियोंको कोई ज्ञानप्रसूत नहीं कहता। जिनके लिये शोक करना अनुचित है उनके लिये तुम शोक कर रहे हो। ज्ञानी पुरुष किसीके भी लिये शोक नहीं करता––मृत व्यक्तिके लिये भी नहीं, जीवित व्यक्तिके लिये भी नहीं। वह यह जानता है कि न मृत्यु है, न विच्छेद है, न दुःख है, हम अमर हैं, हम सदा एक हैं, हम आनंदके संतान हैं, अमृतके संतान हैं, इस पृथ्वीपर हम जीवन-मरणके साथ आंखमिचौली खेलनेके लिये आये हैं––प्रकृतिके विशाल रंगमंचपर रोने-हंसनेका अभिनय करते हैं, शत्रु-मित्र बनकर युद्ध और शांति, प्रेम और कलहका रसास्वादन करते हैं। यह जो हम थोड़े समयतक बचे रहते हैं, यह नहीं जानते कि कल-परसों देह त्यागकर कहां चले जायंगे, यह हमारी अनंत क्रीड़ाका एक मुहूर्त्तमात्र है, क्षणिक खेल

है, कुछ क्षणोंका भाव है। हम थे, हम हैं, हम रहेंगे—हम सनातन, नित्य, अविनाशी हैं,—हम प्रकृतिके ईश्वर हैं, जीवन-मरणके कर्त्ता हैं, भगवान्के अंश हैं, भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी हैं। जिस तरह शरीरकी बाल्य, युवा और वृद्धावस्था होती है, उसी तरह देहांतरप्राप्ति भी होती है—मरण नाममात्र है, नाम सुनकर ही हमें भय होता है, दुःख होता है, यदि हम ठीक-ठीक समझते तो हमें भय भी न होता, दुःख भी न होता। यदि हम किसी बालकके जवान हो जानेपर यह समझें कि उस बालककी मृत्यु हो गयी और रोते हुए यह कहें कि आह! हमारा वह प्रिय बालक कहां चला गया, यह युवा पुरुष तो वह बालक नहीं है, हमारा वह सोनेका चांद किधर गया, तो हमारे इस व्यवहारको सभी हास्यास्पद और घोर अज्ञानप्रसूत ही कहेंगे; क्योंकि यह अवस्थांतर-की प्राप्ति प्रकृतिका नियम है, बालक-शरीरमें और युवक-शरीरमें एक ही पुरुष बाह्य परिवर्तनको अतिक्रम करता हुआ स्थिरता-के साथ विराजमान रहता है। साधारण मनुष्यमें मृत्युके कारण जो भय और दुःख होता है उसे देखकर ज्ञानी पुरुष उसके इस व्यवहारको ठीक उसी तरह हास्यास्पद और घोर अज्ञानजनित मानता है, क्योंकि देहांतर-प्राप्ति प्रकृतिका नियम है, स्थूल देह और सूक्ष्म देहमें एक ही पुरुष बाह्य परिवर्तनके अतीत होकर स्थिर भावसे विराजमान रहता है। हम अमृतके संतान हैं, कौन मरता है और कौन मारता है? मृत्यु हमारा स्पर्श नहीं

कर सकती––मृत्यु एक निरर्थक शब्द है, मृत्यु भ्रम है, मृत्यु नामकी कोई चीज नहीं है।

मात्रा

पुरुष अचल है और प्रकृति सचल है। सचल प्रकृतिके अंदर अचल पुरुष अवस्थित है। प्रकृतिस्थ पुरुष पंचेंद्रियद्वारा जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता, स्वाद लेता और स्पर्श करता है, उसीका भोग करनेके लिये वह प्रकृतिकी सहायता लेता है। हम रूप देखते हैं, शब्द सुनते हैं, गंध सूंघते हैं, रसका स्वाद लेते हैं, स्पर्शका अनुभव करते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये तन्मात्राएं ही इंद्रियभोगके विषय हैं। छठी इंद्रिय मनका विशेष विषय संस्कार है। बुद्धिका विषय चिंतन है। पंचतन्मात्राओं और संस्कार तथा चिंतनका अनुभव और भोग करनेके लिये ही पुरुष-प्रकृतिका पारस्परिक संभोग और अनंत क्रीड़ा होती है। यह भोग दो प्रकारका होता है, शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध भोगमें सुख-दुःख नहीं होता, इसमें पुरुषका चिरंतन स्वभावसिद्ध धर्म है आनंद। अशुद्ध भोगमें सुख-दुःख होता है, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, हर्ष-शोक इत्यादि द्वंद्व अशुद्ध भोग भोगनेवालोंको विचलित और विक्षुब्ध करते हैं। कामना अशुद्धताका कारण है। कामिमात्र ही अशुद्ध हैं, जो निष्काम है वह शुद्ध है। कामनासे राग और द्वेष पैदा होते हैं, राग-द्वेषके वशमें होकर पुरुष विषयोंमें आसक्त होता है,

और आसक्तिका फल है बंधन। पुरुष विचलित और विक्षुब्ध, यहांतक कि व्यथित और यंत्रणासे पीड़ित होनेपर भी आसक्तिके अभ्यासके दोषके कारण अपने क्षोभ, व्यथा अथवा यंत्रणाके कारण-को छोड़नेमें असमर्थ होता है।

समभाव

श्रीकृष्णने पहले आत्माकी नित्यताका उल्लेख किया और फिर अज्ञानके बंधनको ढीला करनेका उपाय बताया। मात्रा अर्थात् विषयोंके जो नानारूप स्पर्श हैं वे ही सुख-दुःख आदि द्वंद्वोंके कारण हैं। ये स्पर्श अनित्य हैं, इनका आरंभ भी है और अंत भी है, इन्हें अनित्य जानकर इनकी आसक्तिका त्याग करना चाहिये। अनित्य वस्तुमें जब हम आसक्त हो जाते हैं तब उस वस्तुके आगमनसे खुश होते और उसका नाश या अभाव होनेपर दुःखित और व्यथित होते हैं। इसी अवस्थाको अज्ञान कहते हैं। अज्ञान-के द्वारा अनश्वर आत्माका सनातन भाव और यथार्थ आनंद आच्छादित हो जाता है, हम केवल क्षणभंगुर भाव और वस्तु-द्वारा मत्त हुए रहते हैं, उसका नाश होनेपर मारे दुःखके शोक-सागरमें डूब जाते हैं। जो मनुष्य इस प्रकार अभिभूत न हो विषयोंके स्पर्शोंको सहन कर सकता है, अर्थात् जो द्वंद्वोंकी प्राप्ति होनेपर भी सुख-दुःखमें, सर्दी-गर्मीमें, प्रिय-अप्रियमें, मंगल-अमंगलमें, सिद्धि-असिद्धिमें हर्ष और शोकका अनुभव न कर उनको समान

भावसे और प्रफुल्लित चित्तसे हंसते हुए ग्रहण कर सकता है वह पुरुष रागद्वेषसे मुक्त हो जाता है, अज्ञानके बंधनोंको काटकर सनातन भाव और आनंदको उपलब्ध करनेमें समर्थ होता है—**अमृतत्वाय कल्पते।**

समताकी विशेषता

यह समता गीताकी पहली शिक्षा है। समता ही गीतोक्त साधनाकी आधार-भूमि हैं। यूनानके स्टोइक (Stoic) संप्रदायने भारतसे इस समताकी शिक्षाको ही प्राप्त कर यूरोपमें समतावादका प्रचार किया था। यूनानी दार्शनिक एपिकुरसने श्रीकृष्णद्वारा प्रचारित शिक्षाकी एक और ही दिशाको पकड़कर भोगवाद (Epicureanism) या शांत भोगकी शिक्षाका प्रचार किया था। ये दो मत अर्थात् समतावाद और भोगवाद प्राचीन यूरोपमें श्रेष्ठ नैतिक मत माने जाते और आधुनिक यूरोपमें भी इन्होंने नया आकार धारण कर पवित्रतावाद (Puritanism) और मूर्त्तिपूजावाद (Paganism) के चिरद्वंद्वकी सृष्टि की है। परंतु गीतोक्त साधनामें समतावाद और शांत या शुद्ध भोग एक ही बात है। समता कारण है और शुद्ध भोग कार्य है। समतासे आसक्तिका नाश होता है, रागद्वेष प्रशमित होता है और आसक्तिका नाश तथा रागद्वेषका प्रशमन होनेसे शुद्धता उत्पन्न होती है। शुद्ध पुरुषका भोग कामना और आसक्तिसे रहित होता है, अतएव

शुद्ध होता है। इसी कारण समताकी यह विशेषता है कि समताके साथ आसक्ति और रागद्वेष एक ही आधारमें साथ-साथ नहीं रह सकते। समता ही शुद्धिका बीज है।

दुःखजय

यूनानके स्टोइक संप्रदायने यह भूल की कि उन्होंने दुःखविजयका यथार्थ उपाय न पा दुःखको निग्रहके द्वारा, उसे दबाकर अथवा पैरसे कुचलकर जीतनेकी चेष्टा की। किंतु गीतामें एक दूसरी जगह ऐसा कहा गया है कि '**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।**' भूतमात्र अपनी-अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं, निग्रह करनेसे क्या होगा? दुःखका निग्रह करनेसे मनुष्यका हृदय शुष्क, कठोर और प्रेमशून्य हो जाता है। दुःख पड़नेपर आंखोंसे आंसू नहीं बहाऊंगा, यंत्रणाके अनुभवको स्वीकार नहीं करूंगा, 'यह कुछ नहीं है' ऐसा कहकर चुपचाप सहन कर लूंगा, स्त्रीके दुःखको, संतानके दुःखको, बंधुके दुःखको, जातिके दुःखको अविचलित चित्तसे देखूंगा—इस प्रकारका जो भाव है वह बलगर्वित असुरका तपस्या-भाव है, उसका भी महत्त्व है, मनुष्यकी उन्नतिके लिये उसकी भी आवश्यकता है, किंतु यह दुःखको जीतनेका वास्तविक उपाय नहीं है, यह अंतिम या चरम शिक्षा नहीं है। दुःखको जीतनेका वास्तविक उपाय है ज्ञान, शांति और समता। शांत भावसे सुख-दुःखको ग्रहण करना ही वास्तविक पथ है। प्राणमें

जो सुख-दुःखका संचार होता है उसे रोकना नहीं चाहिये, बल्कि बुद्धिको अविचलित रखना चाहिये, समताका स्थान बुद्धि है, चित्त नहीं है, प्राण नहीं है। बुद्धि सम होनेपर चित्त और प्राण अपने-आप सम हो जाते हैं, अथच प्रेम आदि प्रकृतिजात प्रवृत्तियां सूखती नहीं, मनुष्य पत्थर नहीं हो जाता, जड़ और निर्जीव नहीं बन जाता। **प्रकृतिं यान्ति भूतानि**—प्रेम इत्यादि प्रवृत्तियां प्रकृतिकी चिरंतन प्रवृत्तियां हैं, उनके हाथसे परित्राण पानेका एकमात्र उपाय है परब्रह्ममें विलीन हो जाना। प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिका त्याग करना असंभव है। यदि हम कोमलताका परित्याग करें तो कठोरता हमारे हृदयको अभिभूत कर लेगी—यदि बाहरमें दुःखके स्पंदनको पास न आने दें तो भीतरमें दुःख जमा हो जायगा और वह अलक्षित रूपसे प्राणको सुखा देगा। इस प्रकारकी कठोर साधना करनेसे उन्नति होनेकी कोई संभावना नहीं। ऐसी तपस्या-से शक्ति तो प्राप्त होगी, पर इस जन्ममें हम जिस चीजको दबा-कर रखेंगे वह दूसरे जन्ममें सभी अवरोधोंको तोड़-फोड़कर दूने वेगके साथ उमड़ आयेगी।

परिशिष्ट

विश्वरूपदर्शन

गीतामें विश्वरूप

'वन्दे मातरम्' शीर्षक प्रबंधमें हमारे श्रद्धेय मित्र विपिनचन्द्र पाल ने प्रसंगवशात् अर्जुनके विश्वरूपदर्शनका उल्लेख करते हुए यह लिखा है कि गीताके एकादश अध्यायमें जो विश्वरूपदर्शनका वर्णन किया गया है, वह एकदम असत्य है, केवल कविकी कल्पना है। हम इस बातका प्रतिवाद करनेके लिये बाध्य हैं। विश्वरूपदर्शन गीताका अत्यंत आवश्यक अंग है, अर्जुनके मनमें जो दुविधा और संदेह उत्पन्न हुआ था, उसका श्रीकृष्णने तर्क और ज्ञानगर्भित उक्तिके द्वारा निरसन किया था, किंतु तर्क और उपदेशके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह दृढ़प्रतिष्ठित नहीं होता, जिस ज्ञानकी साक्षात् उपलब्धि होती है वही ज्ञान दृढ़प्रतिष्ठ होता है। इसी कारण अर्जुनने अंतर्यामीकी गुप्त प्रेरणासे विश्वरूपदर्शनकी आकांक्षा प्रकट की। विश्वरूपदर्शनसे अर्जुनका संदेह चिरकालके लिये तिरोहित हो गया, बुद्धि पवित्र और विशुद्ध होकर गीताका परम रहस्य ग्रहण करनेके योग्य

हो गयी। विश्वरूपदर्शनसे पहले गीतामें जो ज्ञान कथित हुआ है वह साधकके लिये उपयोगी, पर ज्ञानका बहिरंग है; उस विश्वरूपदर्शनके बाद जो ज्ञान कथित हुआ है वह ज्ञान गूढ़ सत्य, परम रहस्य, सनातन शिक्षा है। उसी विश्वरूपदर्शनके वर्णन-को यदि हम कविकी उपमा कहें तो गीताकी गंभीरता, सत्यता और गभीरता नष्ट हो जाती है, योगलब्ध गभीरतम शिक्षा कतिपय दार्शनिक मत और कविकल्पनाके समूहके रूपमें परिणत हो जाती है। विश्वरूपदर्शन कल्पना नहीं है, उपमा नहीं है, बल्कि सत्य है; अतिप्राकृत सत्य नहीं है, क्योंकि विश्व प्रकृति-अंतर्गत है, विश्वरूप अतिप्राकृत नहीं हो सकता। विश्वरूप कारण-जगत्का सत्य है, कारण-जगत्का रूप दिव्य चक्षुके सामने प्रकट होता है। दिव्यचक्षुप्राप्त अर्जुनने कारण-जगत्का विश्व-रूप देखा था।

साकार और निराकार

जो लोग निर्गुण निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे गुण और आकारकी बातको रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं; जो लोग सगुण निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे शास्त्रोंकी दूसरी तरहकी व्याख्या करके निर्गुणत्वको अस्वीकार करते हैं तथा आकारको रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं। जो लोग सगुण साकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे उन दोनोंके ऊपर आक्रमण करते हैं। हम इन तीनों मतोंको संकीर्ण

तथा अपूर्ण-ज्ञान-संभूत मानते हैं। कारण, जिन लोगोंने साकार और निराकार, द्विविध ब्रह्मकी उपलब्धि की है वे लोग भला किस प्रकार एकको सत्य और दूसरेको असत्य कल्पना कहकर ज्ञानके अंतिम प्रमाणको नष्ट कर सकते हैं तथा असीम ब्रह्मको सीमाके अधीन कर सकते हैं? अगर हम ब्रह्मके निर्गुणत्व, निराकारत्वको अस्वीकार करें तो हम भगवान्‌की महिमा घटा देते हैं—यह बिलकुल ठीक है; परंतु हम अगर ब्रह्मके सगुणत्व और साकारत्वको अस्वीकार करें तो हम भगवान्‌की महिमा घटा देते हैं—यह बात भी ठीक है। भगवान् रूपके कर्त्ता, स्रष्टा और अधीश्वर हैं, वह किसी रूपमें आबद्ध नहीं हैं; परंतु वह जिस तरह साकारत्वद्वारा आबद्ध नहीं हैं उसी तरह निराकारत्वद्वारा भी आबद्ध नहीं हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, स्थूल प्रकृतिके नियम अथवा देश-कालके नियम-रूप जालमें उन्हें फंसानेका स्वांग रचकर अगर हम यह कहें कि तुम जब अनंत हो तो हम तुम्हें सांत नहीं होने देंगे, कोशिश करके देखो, तुम नहीं हो सकते, तुम हमारे अकाट्य तर्क और युक्तिसे आबद्ध हो, जैसे प्रास्पेरोके इंद्रजालमें फर्डिनैंड बंधा हुआ था, तो यह कैसी हास्यास्पद बात होगी, यह कितने घोर अहंकार और अज्ञानका परिचायक होगा। भगवान् बंधनरहित हैं, निराकार और साकार हैं, साधकको साकार होकर दर्शन देते हैं—उसी आकारमें पूर्ण भगवान् रहते हैं, फिर भी उसी समय संपूर्ण ब्रह्मांडको भी परि-

व्याप्त किये रहते हैं। क्योंकि भगवान् देशकालातीत, अतर्क-गम्य हैं, देश और काल उनके खेलकी सामग्री हैं, देश और काल-रूपी जाल फेंककर, सर्वभूतको पकड़कर वह क्रीड़ा कर रहे हैं; परंतु हम उन्हें उसी जालमें नहीं पकड़ सकते। हम जितनी ही बार तर्क और दार्शनिक युक्तिका प्रयोग कर उस असाध्य-साधनको करने जाते हैं उतनी ही बार वह रंगमय उस जालको हटाकर, हमारे सामने, पीछे, बगलमें, हमसे दूर, चारों ओर, मीठी-मीठी हंसी हंसते हुए, विश्वरूप और विश्वातीत रूपको फैलाकर हमारी बुद्धिको परास्त करते हैं। जो कहता है कि हमने उन्हें जान लिया वह उन्हें बिलकुल नहीं जानता; जो यह कहता है कि हम जानते हैं फिर भी हम नहीं जानते, वही सच्चा ज्ञानी है।

विश्वरूप

जो शक्तिके उपासक हैं, कर्मयोगी हैं, यंत्रीके यंत्र बनकर भगवन्निर्दिष्ट कार्य करनेका आदेश पा चुके हैं, उनकी दृष्टिमें विश्वरूपदर्शन अत्यंत आवश्यक है। विश्वरूपके दर्शनसे पहले भी उन्हें आदेश मिल सकता है। किंतु उस दर्शनके न हो जानेतक वह आदेश ठीक-ठीक स्वीकृत नहीं होता, पेश हो जाता है, मंजर नहीं होता। उस समयतक उनका कमशिक्षा प्राप्त करनेका और तैयार होनेका समय होता है। विश्वरूपदशन हो जानेपर कमका आरंभ होता है। विश्वरूपदर्शन कई प्रकारसे हो सकता

है——जैसी साधना हो, जैसा साधकका स्वभाव हो। कालीके विश्वरूपका दर्शन होनेपर साधक जगत्भरमें अपरूप नारी-रूप देखते हैं, उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो एक पर साथ ही अगणित देहोंसे युक्त, सर्वत्र वही निबिड़-तिमिर-प्रसारक घन-कृष्ण कुंतलराशि आकाशमें छा रही है, सर्वत्र उसी रक्ताक्त खड्गकी आभा आंखोंको झुलसाती हुई नृत्य कर रही है, जगद्-व्यापी उसी भीषण अट्टहासका स्रोत विश्व-ब्रह्मांडको चूर्ण-विचूर्ण कर रहा है। ये सब बातें कवि-कल्पना नहीं हैं, अति-प्राकृत उपलब्धिको अपूर्ण मानव-भाषामें प्रकट करनेका विफल प्रयास नहीं हैं। यह कालीका आत्मप्राकटच है, यह हमारी मांका वास्तविक रूप है,——जो कुछ दिव्य चक्षुसे दिखायी देता है उसीका यह अनतिरंजित सरल सत्य वर्णन है। अर्जुनने कालीके विश्वरूपको नहीं देखा था, उन्होंने देखा था काल-रूप श्रीकृष्णका संहारक विश्वरूप। दोनों एक ही बात हैं। दिव्य चक्षुसे उन्होंने देखा था, बाह्यज्ञानहीन समाधिमें जाकर नहीं देखा था——जो कुछ उन्होंने देखा था उसीका अविकल अनतिरंजित वर्णन व्यासदेवने किया था। यह स्वप्न नहीं है, कल्पना नहीं है——सत्य है, जाग्रत् सत्य है।

कारण-जगत्का रूप

भगवत्-अधिष्ठित तीन अवस्थाओंकी बात शास्त्रोंमें पायी जाती है——प्राज्ञ-अधिष्ठित सुषुप्ति, तैजस या हिरण्यगर्भ-अधिष्ठित

स्वप्न, विराट्-अधिष्ठित जाग्रत्। प्रत्येक अवस्था एक-एक जगत् है। सुषुप्तिमें कारण-जगत् है, स्वप्नमें सूक्ष्म जगत् है, जाग्रत्-में स्थूल जगत् है। कारणमें जो निर्णीत होता है वह हमारे देश-कालसे अतीत सूक्ष्ममें प्रतिभासित होता है और स्थूलमें आंशिक रूपमें स्थूल जगत्के नियमानुसार अभिनीत होता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा, मैं धार्त्तराष्ट्रगणका पहले ही वध कर चुका हूं, फिर भी स्थूल जगत्में उस समय धार्त्तराष्ट्रगण युद्ध-क्षेत्रमें अर्जुनके सामने उपस्थित थे, जीवित थे, युद्धमें संलग्न थे। भगवान्की यह बात असत्य नहीं है, उपमा भी नहीं है। कारण-जगत्में उन्होंने उनका वध किया था, अन्यथा इहलोकमें उनका वध करना असंभव होता। हमारा प्रकृत जीवन कारणमें होता है, स्थूलमें उसकी छायामात्र पड़ती है। परंतु कारण-जगत्का नियम, देश, काल, रूप, नाम इत्यादि बिलकुल भिन्न प्रकारका है। विश्वरूप कारणका रूप है, स्थूलमें दिव्य चक्षु-के सामने प्रकट होता है।

दिव्य चक्षु

दिव्य चक्षु क्या वस्तु है? यह कल्पनाका चक्षु नहीं है, कविकी उपमा नहीं है। योगलब्ध दृष्टि तीन प्रकारकी होती है—सूक्ष्म दृष्टि, विज्ञान-दृष्टि और दिव्य दृष्टि। सूक्ष्म दृष्टि-से हम स्वप्नमें या जाग्रत् अवस्थामें मानसिक मूर्त्तियोंको देखते हैं; विज्ञान-चक्षुसे हम समाधिकी अवस्थामें सूक्ष्म जगत् और

कारण-जगत्के अंदर विद्यमान नाम-रूपकी प्रतिमूर्त्तियों और सांकेतिक रूपोंको चिदाकाशमें देखते हैं, और दिव्य चक्षुसे कारण-जगत्के नाम-रूपकी उपलब्धि करते हैं––समाधिमें उपलब्ध करते हैं, स्थूल चक्षुके सामने भी देखते हैं। जो स्थूल इंद्रियोंके लिये अगोचर है, वह यदि इंद्रियगोचर हो तो इसे दिव्य चक्षुका प्रभाव समझना चाहिये। अर्जुन दिव्य चक्षुके प्रभावसे जाग्रत् अवस्थामें भगवान्के कारणांतर्गत विश्वरूपको देखकर संदेहमुक्त हुए थे। वह विश्वरूपदर्शन भले ही स्थूल जगत्का इंद्रियगोचर सत्य न हो, पर स्थूल सत्यकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य है––कल्पना, असत्य या उपमा नहीं है।

श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी
A 497-52-6-1000

